श्री जैन सिद्धान्त कौमुदी

विविध जीव योनियाँ

विविध जीव योनियाँ

रचयिता :— आचार्य श्री विजय सुशील सूरि.

卐 ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः 卐

श्री जैन सिद्धान्त कौमुदी

(संस्कृत)

रचयिता

प्रतिष्ठाशिरोमणि-श्री अष्टापद जैन तीर्थ के संस्थापक

प.पू. आचार्य भगवंत

श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म.सा.

संपादक

सुमधुर प्रवचनकार - जीर्णोद्धार प्रेरक

प.पू. आचार्यदेव

श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म.सा.

भूमिका लेखक

शम्भु दयाल पाण्डेय

प्रकाशक

श्री सुशील - साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर (राज.)

पुस्तक - श्री जैन सिद्धान्त कौमुदी
प्रति - 1000, मूल्य - सदुपयोग
प्रेरक - पू. मुनिराज श्री रत्नशेखर विजय जी म.
पू. मुनिराज श्री अरिहंत विजय जी म.
पू. मुनिराज श्री रविचन्द्र विजय जी म.
पू. मुनिराज श्री हेमरत्न विजय जी म.
पू. मुनिराज श्री जिनरत्न विजय जी म.

प्राप्ति स्थान

श्री अष्टापद जैन तीर्थ
सुशील विहार, वरकाणा रोड, मु. रानी स्टेशन
पिन : 306 115. जि. पाली (राज.)
☎ : (02934) 222715 Fax : 223454

आचार्य श्री सुशील सूरिजी
ज्ञान मन्दिर,
शान्ति नगर
पो. सिरोही - 307 003(राज.)

श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति
C/o संघवी श्री गुणदयालचंद जी भंडारी
राइका बाग, पुरानी पुलिस लाइन
पो. जोधपुर - 342 006(राज.)
☎:(0291) 2511829, 2510621 Fax : 2511674

सुशील सन्देश प्रकाशन मंदिर
जी/4/6, रानी सती नगर, पहला माला
एस.बी.रोड, मलाड़(पश्चिम)पो. मुंबई- 64
☎ : (022) 28897779, 28723362
Moblie : 098200 67121

श्री जैन शासन सेवा ट्रस्ट
C/o शा. देवराजजी जैन
125,महावीर नगर, पाली- 306 401
☎ : (02932) (O) Fax 231667, (R) 230146
Mobile : 94141 19667 देवराजजी
98290 20667 राकेश

सुशील फाउन्डेशन
C/o Mangilal Mangal Chand Tater
52, Maddox Street, Vepery
Chennai- 600 007
☎ : (044) 26422632, 26422773
Fax 26427698

श्री सुशील गुरु भक्त मंडल C/o शा. जुगराजजी दानमलजी श्रीश्रीमाल
C/o S.K. & Co.
51/53, New Hanuman Lane, Maru Bhawan, MUMBAI - 400 002 (M.H.)
✆ : (O) 22015157 (R) 23712546 (Mobile : 98690 07161)

वन्दन हो गुरु चरणे

शासन सम्राट्

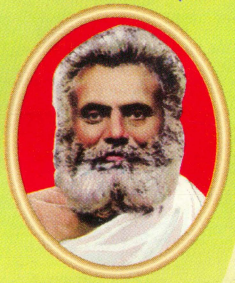

।।नमामि सादरं नेमि सूरीशं।।

साहित्य सम्राट्

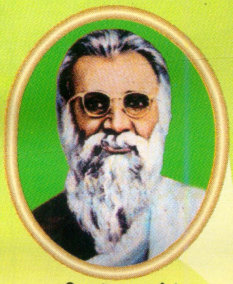

।।नमामि सादरं लावण्य सूरीशं।।

संयम सम्राट्

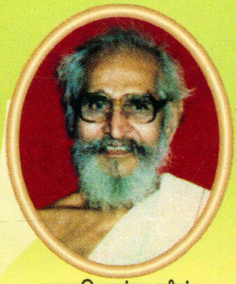

।।नमामि सादरं दक्ष सूरीशं।।

गौरवशाली वर्तमान

प्रतिष्ठा शिरोमणि
गच्छाधिपति
राजस्थान दीपक
।। नमामि सादरं सुशील सूरीशं।।

उज्वल भविष्य

सुमधुर प्रवचनकार
जीर्णोद्धार प्रेरक
।। नमामि सादरं जिनोत्तम सूरीशं।।

समर्पण

आस्था के आयाम
गुणों के निधान
कवित्व के अजस्रोत
ज्ञान गुण ओत-प्रोत

परमोपकारी-भवोदधितारक-परमकृपालु
मेरी जीवन नैया के सुकानी
परम पूज्य गुरुदेव आचार्य भगवंत
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म. सा.
के कर-कमलों में सविनय
सादर समर्पित.

-विजय जिनोत्तम सूरि.

कृपा छत्र मुझ पर सदा, रखना दीन दयाल।
यही जिनोत्तम भावना, रखना पूर्ण कृपाल ॥

प्रकाशकीयम्

गुरुजन, मानव जीवन को सही दिशा प्रदान करते हैं। सच्चा मार्गदर्शन देते हैं। गुरु ही वह पारसमणि है जो जंग लगे लोहे के समान अनेक दुर्गुणों से युक्त मानव के जीवन को कंचन बना देते हैं। ऐसे ही परम कारुणिक गुरुदेव हैं - प्रतिष्ठा शिरोमणि, अष्टापद तीर्थ संस्थापक, शास्त्र विशारद, कविभूषण, साहित्यरत्न **आचार्य श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब।**

आपके द्वारा विरचित सत्साहित्य जन-जन में धार्मिक, साहित्यिक एवं तार्किक जागृति का संचार करता है। सम्प्रति **"श्री जैन सिद्धान्त कौमुदी (संस्कृत)"** के माध्यम से आपने ऐसा ही सदनुष्ठान सम्पादित किया है। आपका जीवन **अधीतमध्यापितमर्जितं यशः** का असाधारण उदाहरण है।

'श्री जैन सिद्धान्त कौमुदी (संस्कृत)' की प्रकाशन वेला में हम हर्षित हैं तथा आशा करते हैं कि पाठकगण इस पुस्तक को आत्मसात् करके अपने मानव जीवन को सद्गुण सौरभ से महकायेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में सहयोगी महानुभावों का हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

- श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति,

जोधपुर

प. पू. शासन सम्राट् समुदाय के वडिल-गच्छाधिपति परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म.सा.

जीवन परिचय

जन्म : वि.सं.१९७३ भाद्रपद शुक्ल द्वादशी २८ जून १९१७ चाणस्मा(उत्तर गुजरात)
माता : श्रीमती चंचल बेन मेहता
पिता : श्री चतुरभाई मेहता
नाम : गोदड़भाई
परिवार गौत्र : चौहाण गौत्र वीशा श्रीमाली

संयमी परिवार : पिताजी व दो भाई एवं एक बहन ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की ।
दीक्षा : वि.सं. १९८८ कार्तिक (मार्गशीर्ष) कृष्णा २ दिनांक २७ नवम्बर १९३१ श्री पद्मनाभ स्वामी जैन तीर्थ, उदयपुर (राज.)
दीक्षा नाम : पू. मुनि श्री सुशील विजय जी म.सा.
बड़ी दीक्षा : वि.सं. १९८८ महासुदी पंचमी, सेरिसा तीर्थ (गुजरात)
गणिपदवी : वि.सं. २००७ कार्तिक(मार्ग शीर्ष) कृष्णा ६,दिनांक १ दिसम्बर १९५० वेरावल (गुजरात)
पंन्यास पदवी : वि.सं. २००७ वैशाख शुक्ला ३ दिनांक ६ मई १९५१ अहमदाबाद (गुजरात)
उपाध्याय पद : वि.सं. २०२१ माघ शुक्ला ३ दिनांक ४ फरवरी १९६५ मुंडारा(राजस्थान)
आचार्य पद : वि.सं. २०२१ माघ शुक्ला ५ दिनांक ६ फरवरी १९६५ मुंडारा (राजस्थान)
साहित्य : सर्जन करीब १७० ग्रंथ पुस्तकों का लेखन, पुस्तकों का अनुवाद, ग्रन्थों का सम्पादन
प्रतिष्ठाएँ : १५१ से अधिक जैन मंदिरों की प्रतिष्ठाएँ व अंजनशलाकाएँ (वि.सं. २०१७ से वि.सं. २०५८ तक)
जैन तीर्थ निर्माता :श्री अष्टापद जैन तीर्थ- सुशील विहार, रानी (राजस्थान)
अलंकरण : साहित्य रत्न, शास्त्र विशारद एवं कवि भूषण-मुंडारा (राजस्थान)

जैनधर्म दिवाकर - वि.सं. २०२७ जैसलमेर(राजस्थान)
मरुधर देशोद्धारक - वि.सं. २०२८ रानी स्टेशन(राजस्थान)
राजस्थान दीपक - वि.सं. २०३१ पाली-मारवाड़ (राजस्थान)
शासन रत्न - वि.सं. २०३१ जोधपुर(राजस्थान)
श्री जैन शासन शणगार - वि.सं. २०४६ मेड़ता सिटी(राजस्थान)
प्रतिष्ठा शिरोमणि - वि.सं. २०५० श्री नाकोड़ा जैन तीर्थ, मेवानगर(राजस्थान)
जैन शासन शिरोमणि - वि.सं. २०५५ पाली शहर में
पट्ट परम्परा - श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी परमात्मा के वर्तमान जैन शासन में इन्हीं के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी जी महाराज की सुविहित परम्परा के ७७ वें पाट पर सुशोभित तपागच्छाचार्य।

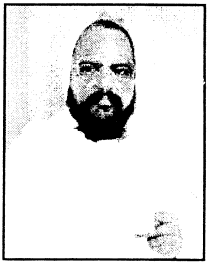

संपादक

सुमधुर प्रवचनकार

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वरजी म.सा.

मिताक्षरी परिचय

- माता : श्री दाड़मी बाई (वर्तमान में साध्वी श्री दिव्यप्रज्ञा श्रीजी)
- पिता : श्री उत्तमचन्दजी अमीचन्दजी मरड़ीया (प्राग्वाट)
- जन्म : जावाल सं. २०१८ चैत्र वद-६, शनिवार, २७ मार्च,१९६२
- सांसारिक नाम : जयन्तीलाल
- श्रमण नाम : पू. मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म.
- गुरूदेव : प.पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म.सा.
- दीक्षा : जावाल सं. २०२८ ज्येष्ठ वद-५ रविवार १५ मई, १९७१
- बडी दीक्षा : उदयपुर सं. २०२८ आषाढ़ शुक्ल-१०
- गणिपद : सोजत सिटी सं. २०४६ मिगशर शुक्ल-६, सोमवार, ४ दिसम्बर१९८६
- पंन्यास पद : जावाल सं. २०४६, ज्येष्ठ शुक्ल १०, शनिवार, २ जून १९९०
- उपाध्याय पद : कोसेलाव वि.सं. २०५३, मृगशीर्षवद-२, बुधवार, २७ नवम्बर,१९९६
- आचार्य पद : लाटाडा वि.सं. २०५४ वैशाख शुक्ल-६, १२ मई १९९७

परिवार में दीक्षित:

दादा- पू. मुनि श्री अरिहंत विजयजी म., **दादी** - पू. साध्वी श्री भाग्यलताश्रीजी म.
माता - पू. साध्वी श्री दीव्यप्रज्ञाश्रीजी म., **भुआ** - पू. साध्वी श्री स्नेहलताश्रीजी म.
भुआ - पू. साध्वी श्री भव्यगुणाश्रीजी म.

धन्य तीर्थ

ॐ ह्रीं नमो तित्थस्स

जय अष्टापद

राजस्थान शणगार भारत भूषण गोडवाड गौरव

संपूर्ण भारतवर्ष में अपने ढंग का प्रथम प्रयास

श्री अष्टापद जैन तीर्थ

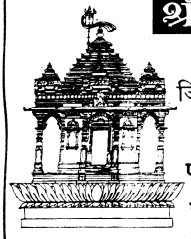

सुशील विहार, वरकाणा रोड, रानी ३०६११५

जि. पाली (राज.) ०२९३४ २२२७१५ फैक्स नं. २२३४५४

शुभ प्रेरणा

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय सूशील सूरीश्वरजी म.सा.

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर म.सा.

सेवा-पूजा-भक्ति का अनुपम धर्म-स्थल

सुविधायें- भोजन एवं भाताशाला, आधुनिक यात्री निवास, यातायात साधन।

दर्शनार्थ पधार कर आत्म-शान्ति प्राप्त करें।

सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय की सत्प्रेरणा से प्रकाशित

हिन्दी पत्रिका

अवश्य पढ़ें...

आजीवन सदस्यता शुल्क रु. ७११/- मात्र

सुशील-सन्देश

मानद सम्पादक

श्री नैनमल विनयचंद्रजी सुराणा, सिरोही

- क्या आप अपने जीवन को सुसंस्कारों से सुवासित करना चाहते हैं ?
- क्या आप जैनधर्म के रहस्य, जैन इतिहास-तत्त्वज्ञान- जैन आचार-प्रेरणादायी कथाएँ पढ़कर जीवन को धर्म की सौरभ से सुवासित करना चाहते हैं?
- हाँ ! तो आज ही सुशील-सन्देश के आजीवन सदस्य बनें।

अनेकविध विशेषताओं से परिपूर्ण, जीवन में सदाचार- पवित्रता का सन्देश प्रवाहित करने वाला, गत 16 वर्षो से नियमित प्रकाशित सुशील-सन्देश के सदस्य अवश्य बनें।

卐 **सम्पर्क सूत्र** 卐

सुशील सन्देश प्रकाशन मन्दिर

जी/4/6, रानी सती नगर, पहला माला, एस.बी. रोड,

मलाड (पश्चिम), मु. मुम्बई- 400 064

श्री जैन शासन सेवा ट्रस्ट (रजि.)

कार्यालय - 125, महावीर उद्योग नगर, पाली (राज.)

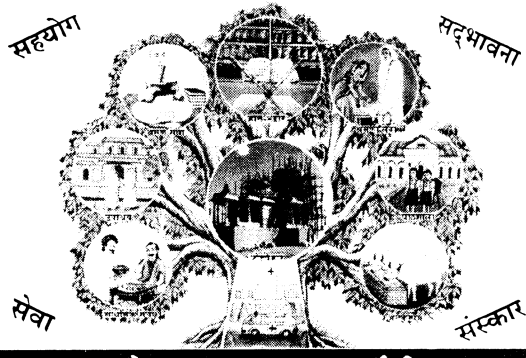

1,111 रु. का सहयोग प्रदान कर पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जन करें।

शुभ आशीर्वाद

प्रतिष्ठा शिरोमणि प. पू. आचार्य भगवंत श्रीमद विजय सुशील सूरीश्वर जी म.सा.
एवं प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वर जी म.सा.

पावन प्रेरणा

प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय अरिहंत सिद्ध सूरीश्वरजी म.सा. के आज्ञानुवर्तिनी **पू. साध्वी श्री ललित प्रभा श्री जी म.** की शिष्या **पू. साध्वी श्री स्नेहलताश्रीजी म.**की शिष्या **पू. साध्वी श्री भव्यगुणाश्री जी म, पू. साध्वी श्री दिव्यप्रज्ञाश्री जी म. (पू. माताजी महाराज), पू. साध्वी श्री शीलगुणा श्री जी म. सा., पू. साध्वी श्री प्रफुल्लप्रज्ञा श्री जी म. सा** आदि ठाणा।

ट्रस्ट मंडल

अध्यक्ष : शा. हस्तिमल जी देवीचंद जी मुठलिया, तखतगढ़ (मुम्बई)
उपाध्यक्ष : शा. हुक्मीचंद जी ताराचंद जी, कैलाशनगर (चैन्नई)
शा. दिलीपकुमार जी पुखराज जी, शिवगंज(सिमोगा)
महासचिव : शा. बाबुलाल जी हस्तिमलजी कोठारी, रानी (पाली)
सचिव : शा. मंछालालजी कुंदनमलजी, तखतगढ़ (मुम्बई)
कोषाध्यक्ष : शा. देवराज जी दीपचंदजी राठौड़, जवाली (पाली)
सह-कोषाध्यक्ष : शा. महावीरचंद जी देवीचंद जी पालरेचा, दुंदाडा (बालोतरा)
ट्रस्टी : शा. प्रकाशचंद जी गेनमल जी, जावाल (चेन्नई), शा. पन्नालाल जी रिखबचंद जी, जावाल(चैन्नई),शा. घेवरचन्दजी भूरमलजी, अगवरी (नेल्लार) संघवी श्री हसमुख भाई धनराजजी,मंडार(दिल्ली), शा. अशोककुमारजी घीसुलालजी राठौड़ चांचोडी (पूना), शा. देवराजजी किस्तुरचन्दजी, रामाजी गुड़ा(भिवन्डी)

प्रस्तावना

- आचार्य शम्भु दयाल पाण्डेय

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन सिद्धान्त का एक विशिष्ट महत्त्व है। जैन संस्कृति में दो प्रकार के मान्यता प्राप्त पवित्र ग्रंथ हैं-

चतुर्दश पूर्व और ग्यारह अंग। इनका अध्ययन-अध्यापन-एक विशिष्ट रीति से प्रारम्भिक क्षणों से वर्तमान तक चल रहा था कि यह क्रम शनैः शनैः कुछ विलुप्त हो गया। ग्यारह अंगों के नाम है - आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग समवायाङ्ग भगवतीसूत्र ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशाङ्ग, अन्तकृतदशा अनुत्तरौपपातिक-दशा, प्रश्न व्याकरण और विपाक सूत्र।

इसके अतिरक बारह उपांग[1] दस प्रकीर्ण[2] छः छेदसूत्र[3] नांदी अनुयोगद्वार तथा चार मूल सूत्र (उत्तराध्ययन आवश्यक सूत्र दशवैकालिक सूत्र तथा पिण्डनिर्युक्ति भी प्राप्तव्य हैं।)

---

१. औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिराम, प्रज्ञापना जम्बु द्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति निरयावली, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्प-चूलिका तथा वृष्णिदशा।

२. चतुः शरण संस्तार, आतुर प्रत्याख्यान, भक्तापरिज्ञा, तन्दुलवैयाली, चण्डाबीज, देवेन्द्रस्तव, गणिबीज, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव।

३. निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प पंचकल्प।

इनके अतिरिक्त प्राचीन रचना है श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, जो कि उमास्वाति द्वारा संस्कृत भाषा में प्रणीत है। श्वेताम्बर-दिगम्बर उभय विध सम्प्रदायों में समान रूप से यह ग्रन्थ आदृत है। इस ग्रन्थ का समय १-८५ ई. स्वीकार किया गया है।

जैन तर्कवार्तिक शान्याचार्यकृत, नेमिचन्द्र कृत द्रव्य संग्रह मल्लिषेण कृत-स्याद्वाद मंजरी, सिद्धसेन दिवाकर कृत न्यायावतार, अनन्तवीर्यकृत परीक्षामुखसूत्र, लघुवृत्ति, प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमल मार्तण्ड आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र, देवसूरिकृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार आदि महनीय जैन दार्शनिक ग्रन्थों के अनुशीलन से जैन दर्शन के सिद्धान्तों को आत्मसात् करके स्वनाम धन्य विद्वमूर्धन्य शास्त्रविशारद प्रतिष्ठा शिरोमणि **आचार्य श्री सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब ने जैन सिद्धान्त कौमुदी** की रचना की है।

प्रस्तुत जैन सिद्धान्त कौमुदी का प्रारम्भ मंगलाचरण से है जिसमें पाँच श्लोक है। पदार्थ विवेचन से नाना विषयों का क्रमिक विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण जैनदर्शन सिद्धान्त का तत्त्वत: समावेश करने वाले इस ग्रन्थ में मंगलाचरण सहित ५+७१३ =७१८ श्लोक हैं।

विषय प्रवेश

यह रचना संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। अत: विषय वस्तु का संक्षिप्त परिचय भी इस भूमिका के माध्यम से प्रस्तुत करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ -

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - ये तीनों संवलित रूप से मोक्षमार्ग हैं। इन्द्रिय मन के विषयस्वरूप समस्त पदार्थों की प्रशस्त दृष्टि - श्रद्धा को 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं अर्थात् विपर्यय और अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित युक्ति संगत दर्शन को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैनागम शास्त्रों में सम्यग् दर्शन की पहचान कराने के लिए प्रशमादि पाँच लिङ्ग प्रतिपादित हैं -

१. **प्रशम** - पदार्थों के असत् पक्षपात से होने वाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम/शान्ति ही 'प्रशम' कहलाता है। प्रशम की स्थिति में क्रोधादिक कषायों का उद्रेक पूर्णत: निग्रहीत/नियन्त्रित होता है।

२. **संवेग** - सांसारिक बन्धनों का भय ही 'संवेग' कहलाता है।

३. **निर्वेद** - संसार, शरीर और भोग रूपी कषायों में आसक्ति का कम होना **निर्वेद** कहलाता है।

४. **अनुकम्पा** - दु:खी जीवों के दु:ख दूर करने की इच्छा 'अनुकम्पा' कहलाती है।

५. आस्तिक्य :

जीवादिक पदार्थों का जो स्वरूप सर्वज्ञ वीतराग श्री अरिहन्त ने कहा है - वही सत्य है - ऐसी अटल श्रद्धा को **'आस्तिक्य' भावना** कहते हैं।

इन प्रशम आदि पञ्चलक्षणों द्वारा आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण की पहचान होती है। वह सम्यग् दर्शन निसर्ग से (स्वाभाविक) परिणाम से तथा अधिगम से उत्पन्न (प्रगट) होता है।

पदार्थों को यथार्थ रूप में जानने के लिए अभिरुचि मनुष्य में दो कारण से उद्भूत होती है। वे दो कारण हैं - (१) सांसारिक (२) आध्यात्मिक।

जो धन-धान्य प्रतिष्ठादि सांसारिक वासनाओं के लिए तत्त्वजिज्ञासा-पदार्थज्ञान होता है, वह सम्यग् दर्शन नहीं होता है, क्योंकि उसका परिणाम मोक्ष प्राप्ति न होकर संसार वृद्धि है। अत: आध्यात्मिक विकास के लिए तत्त्वजिज्ञासा ही 'सम्यग् दर्शन' है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अन्तरंग और बाह्य निमित्त से होती है। केवल अंतरंग निमित्त से प्रगट होने वाला सम्यग्दर्शन निसर्ग सम्यग् दर्शन तथा बाह्य निमित्त द्वारा प्रेरित अंतरंग निमित्त से प्रगट होने वाला दर्शन 'अधिगम सम्यग् दर्शन' कहलाता है।

जैन धर्मदर्शन में नौ तत्त्वों (पदार्थों) की चर्चा है - १. जीव २. अजीव ३. आस्रव ४. पुण्य ५. पाप ६. बन्ध ७. संवर ८. निर्जरा ९. मोक्ष किन्तु उमास्वाति ने पुण्य तत्त्व एवं पाप तत्त्व को आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत मान कर सात तत्त्वों का ही प्रतिपादन किया है। वस्तुत: तत्त्व दो प्रकार के ही हैं - जीवतत्त्व अजीव तत्त्व सर्वसामान्य अपेक्षा से जीव द्रव्य एक ही प्रकार का होता है तथा अजीव द्रव्य पाँच प्रकार का —

१. पुद्गल
२. धर्म
३. अधर्म
४. आकाश
५. काल।

इन भेदों को ही षड्द्रव्य के नाम से व्यवहृत किया जाता है किन्तु एतावन्मात्र से मोक्षमार्ग का स्पष्टीकरण नहीं होता है। अत: उमास्वाति के द्वारा प्रदर्शित सात तत्त्वों का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है -

1. जीव

जीवति - प्राणान् धारयतीति जीव:। चैतन्य गुण सम्पन्न 'जीव' कहलाता है। जो ज्ञान दर्शन की उपयोगिता को धारण करने वाला है - उसे 'जीव' कहते हैं। जीवतत्त्व में - देव-मनुष्य-तिर्यञ्च नरकगति तथा मोक्ष में विद्यमान सभी जीव आते हैं।

2. अजीव

चैतन्य गुण रहित तत्त्व 'अजीव' कहलाता है। यह जडलक्षण होने के कारण सुख-दु:ख आदि के अनुभव से रहित होता है। विश्व के समस्त जड़ पदार्थ अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। जैसे -

- ❖ धर्मास्तिकाय
- ❖ अधर्मास्तिकाय
- ❖ आकाशास्तिकाय
- ❖ पुद्गलास्तिकाय
- ❖ काल द्रव्य

3. आस्रव

शुभ कर्म अथवा अशुभकर्म का आगमन 'आस्रव' कहलाता है। 'आस्रव' शब्द को व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने कहा है-

आ समन्तात् स्रव:-आस्रव: सब तरफ से शुभ या अशुभ कर्मों का आना आस्रव है।

सारांश यह है कि जीव और अजीव का संयोग होने पर नूतन कार्मणवर्गणा का आगमन आस्रव कहलाता है। आस्रव द्वार से ही आत्मा पर कर्म पुद्गल आच्छादित होते हैं। द्रव्य आस्रव व भाव आस्रव के नाम से इसके दो भेद भी जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं।

4. बन्ध

जीवात्मा और कर्म के एक क्षेत्रावगाह को 'बन्ध' कहते हैं। अर्थात् जीवात्मा के साथ कर्मपुद्गलों का नीर-क्षीरवत् एकमेक रूप सम्बन्ध द्रव्यबन्ध है तथा द्रव्यसम्बन्ध में कारणभूत जीवात्मा का अध्यवसाय परिणाम-**भावबन्ध** है।

5. संवर

संव्रियते कर्म कारणं प्राणाति पहिनिरुध्यते
येन परिणामेन सः संवरः।

आत्मा के जिन परिणामों के कारण शुभाशुभ कर्मों का आगमन रुक जाता है - उसे 'संवर' कहते हैं। अथवा जीवात्मा में आते हुए कर्मों को जो रोकता है उसे संवर कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं - आस्रव का निरोध ही संवरतत्त्व है।

6. निर्जरा

निर्जरण-विशरणं-परिशटनं **निर्जरा**। अर्थात् कर्म का बिखरना, झड़ना, सड़ना, विनष्ट होना ही निर्जरातत्त्व है। कर्मों का एक देश रूप से जीवात्मा से सम्बन्ध छूट जाने को **निर्जरा** कहते हैं। आत्मप्रदेशों से कर्मपुद्गलों का मुक्त होना ही द्रव्य निर्जरा है। द्रव्य निर्जरा से उत्पन्न आत्मा का शुद्ध अध्यवसाय अर्थात् परिणाम '**भाव निर्जरा**' कहलाता है।

7. मोक्ष

जीवात्मा से कर्मबन्ध का मिट जाना/छूट जाना ही मोक्ष कहलाता है। कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना-द्रव्य मोक्ष है तथा कर्मों के सर्वथा क्षय होने के कारण आत्मा का निर्मल परिणाम- यानी सर्वसंवर भाव अबन्धकता शैलेशी भाव या चतुर्थ शुक्ल ध्यान - भाव मोक्ष कहलाता है। यही आत्मा की सिद्धत्व परिणति है।

❖ ज्ञान ❖

जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान के भेदों के सन्दर्भ में संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्। सम्यग् ज्ञायते अनेन - इति सम्यग् ज्ञानम्।

अर्थात् वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान जिससे होता है, उसे **सम्यग्ज्ञान** कहते हैं। मौलिक रूप से ज्ञान के पाँच प्रकार जैनदर्शनों में संवर्णित हैं। आचार्य श्री सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब ने प्रस्तुत **'जैन सिद्धान्त कौमुदी'** में कहा है -

पुनः पंचविधं ज्ञानं, जिनाज्ञा पथि वर्तिनाम्।
मति-श्रुताऽवधिचित्त-पर्याय-केवलानि च॥

जै.सि.कौ. श्लोक ७६

आचार्य श्री ने श्लोकों के माध्यम से विस्तृत चर्चा की है।

मूलत: सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं-

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मन: पर्ययज्ञान
५. केवलज्ञान

ज्ञान; पदार्थों का बोध है। अत: जिससे हम तत्त्वार्थ निर्णय प्राप्त करते हैं, उसे ज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा को मोक्षमार्ग के लिए सम्प्रेरित करता है। वह सम्यग् ज्ञान कहलाता है। एतद् विपरीत ज्ञान मिथ्याज्ञान या असत्यज्ञान कहलाता है। जैन दर्शन में प्रतिपादित सम्यग् ज्ञान के पाँच भेदों के स्वरूप विशद रीति से इस प्रकार समझे जा सकते हैं-

मतिज्ञान

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से प्राप्त होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। यह चार प्रकार से होता है - अवग्रह से, ईहा से, अवाय से और धारणा से। कभी घ्राणेन्द्रिय से; कभी चक्षुरिन्द्रिय से, कभी श्रोत्रेन्द्रिय से तथा कभी मन से होता है। इस कारण इसके चौबीस (४x६=२४) भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान के पश्चात् चिन्तन मनन के द्वारा जो परिपक्व ज्ञान होता है, वह 'श्रुतज्ञान' कहलाता है। श्रुतज्ञान इन्द्रियजन्य

तथा मनोजन्य होने पर भी **शब्दोल्लेख** सहित होता है। अर्थात् श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में संकेत-स्मरण, शब्द शक्ति ग्रहण, श्रुत ग्रन्थ का पठन श्रवण एवं अनुसरण अपेक्षित है।

अवधिज्ञान

इन्द्रियों की सहायता के बिना ही जिस ज्ञान से मर्यादा पूर्वक रूपीपदार्थों को जाना जा सके - उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं। अवधि ज्ञान दो प्रकार का होता है - भव प्रत्यय तथा गुण प्रत्यय।

मन: पर्याय ज्ञान

जिससे संज्ञी, पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जाना जा सके वह मन: पर्याय ज्ञान या मन:पर्यय ज्ञान कहलाता है। विशिष्ट निर्मल आत्मा जब मन द्वारा किसी प्रकार की विचारणा करता है अथवा किसी प्रकार का चिन्तन करता है तब चिन्तन प्रवर्त्तक मानस वर्गणा के विशिष्ट आकारों की रचना होती है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के ऐसे मन के पर्यायों के ज्ञान को **मन:पर्यायज्ञान** कहते हैं।

केवलज्ञान

ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों के सर्वांशत: नष्ट होने पर जो एक निर्मल परिपूर्ण, असाधारण तथा अनन्त ज्ञान प्रगट होता है, उसे **'केवलज्ञान'** कहते हैं।

इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों सर्व पदार्थों के सभी पर्यायों का 'प्रत्यक्ष' होता है। आत्मा के ज्ञान की यह चरम सीमा है। यही श्रेष्ठतम ज्ञान है।

❖ प्रमाण ❖

श्रुतज्ञान की उपलब्धि मूलत: दो प्रकार से होती है - आगम से तथा प्रमाणनयादि से। अल्पज्ञ पुरुष का ज्ञान आवृत होता है। अत: उसे सर्वज्ञोक्त ज्ञान का पूर्णत: निर्णय नहीं हो पाता है। तत्त्वार्थत: पदार्थों के परिज्ञान के लिए उसे प्रमाणों का सहारा लेना पड़ता है।

'प्रमाण' के सन्दर्भ में विद्वानों ने कई व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं-

१. प्रमाकरणं प्रमाणम् अर्थात् प्रमाया: करणम् प्रमाणम्।

२. प्रकर्षेण - संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते-परिच्छिद्यते-ज्ञायते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणम्।

३. स्व-पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।

जो प्रमा (जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा मानना का करण निकटतम साधन है - उसे प्रमाण कहते हैं।)

प्रकर्ष रूप से संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय दोषरहित वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्रमाण कहलाता है। स्व-पर-व्यवयायिज्ञान

प्रमाण कहलाता है। आचार्य श्री सुशीलसूरीश्वर ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में न्याय-मीमांसा-सांख्य-बौद्धादि दर्शनों की मान्यता का प्रदर्शन-विमर्श करते हुए प्रमुख रूप से जैनसिद्धान्त की बात ही 'प्रमाण' के सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक कही है -

प्रमाणं हि तदेव कथितं निजान्यव्यवसायकम्।
दीपो यथा निजं रूपं द्योतयत्यपरस्य च॥

जैन सि. कौ. १७६

प्रमाण के भेद

प्रमाण की संख्या के सन्दर्भ में दार्शनिकों में प्रर्याप्त मतभेद हैं। जैन दर्शन ने मुख्यत: दो ही प्रमाण स्वीकार किये हैं -

१. प्रत्यक्ष। २. परोक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण

यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों का स्थान समान है, न्यूनाधिक नहीं। दोनों अपने-अपने विषय में समान बल रखते हैं किन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों में अन्तर है।

प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल में स्वतंत्र होता है जबकि परोक्ष साधन-परतन्त्र। फलत: प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित साक्षात् सम्बन्ध होता है और परोक्ष का व्यवहित अर्थात् माध्यमों द्वारा होता है।

जैनाचार्यों ने लोकदृष्टि का समन्वय करने के लिए प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं - सांव्यवहारिक (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) २. पारमार्थिक (आत्म) प्रत्यक्ष। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं - **अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।**

इन्द्रिय, मन अथवा प्रमाणान्तर की सहायता बिना आत्मा को पदार्थ का जो साक्षात् ज्ञान होता है, उसे आत्मप्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष या **'नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष'** कहते हैं। इन्द्रिय मन की सहायता से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान सांव्यवहारिक या इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। त्रिकालवर्ती प्रमेय मात्र केवलज्ञान का विषय बनता है। अत: उसे सकल प्रत्यक्ष अमुक भाग जो अवधि और मन: पर्याय ज्ञान का विषय बनता है, उसे विकल प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष का प्रतिभास होने पर प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रत्यक्ष वैशद्य युक्त होता है। अत: प्रमाण मीमांसा में कहा भी है -

विशद: प्रत्यक्षम्।

अवधि, मन: पर्याय तथा केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप हैं।

परोक्ष प्रमाण

जिसमें वैशद्य अर्थात् स्पष्टता का अभाव होता है वह परोक्ष प्रमाण कहलाता है - 'अस्पष्टं परोक्षम्'। प्रत्यक्ष को किसी अन्य प्रमाण की सहायता की आवश्यकता नहीं होती है। अत: वह

पूर्ण है किन्तु अनुमान, आगम आदि प्रमाण पूर्ण नहीं है क्योंकि उनका आधार प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद होते हैं -

१. स्मृति
२. प्रत्यभिज्ञान
३. तर्क
४. अनुमान
५. आगम

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण स्वरूप हैं।

❖ नयवाद ❖

पदार्थ के स्वरूप का अवबोध प्रमाणों से होता है किन्तु पदार्थ के अंशरूप का बोध करने के लिए **नयवाद** का आश्रयण किया जाता है। जैसे - गाय को देखकर हमने जाना कि यह गाय है। यह गाय का समग्ररूप से बोध प्रत्यक्ष प्रमाण का रूप है किन्तु यह रक्तवर्ण की गाय है, शरीर से पुष्ट है, दो बछड़ों वाली है, 'अच्छा दूध देती है, यह स्वभाव से सीधी है - इन पाँच विषयों का ज्ञान 'नय' से होता है।

नय का सामान्य लक्षण

अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतैक धर्म विशिष्टं नयति-प्रापयति संवेदनमारोहयतीति नयः।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के नित्य या अनित्य किसी भी एक अंश को ग्रहण कर प्रकाशित करना 'नय' कहलाता है। अनेक अपेक्षाओं से नय के अनेक भेद हैं परन्तु सामान्यत: नय के पाँच भेद हैं। श्री उमास्वाति के अनुसार -

नैगम - संग्रह-व्यवहारर्जु - सूत्रशब्दाः नयाः।

प्रस्तुत सूत्र में पाँच प्रकार के नय वर्णित हैं :-

१. नैगमनय
२. संग्रहनय
३. व्यवहारनय
४. ऋजुसूत्र नय
५. शब्द नय

प्रत्येक के सन्दर्भ में चर्चा इस प्रकार है -

१. नैगमनय

निगम अर्थात् लोक। लोक-नय नैगम नय कहलाता है। अथवा जो प्रमाणों से ग्रहण करें - वह नैगमनय कहलाता है।

नैगमनय सर्ववस्तुओं को सामान्य तथा विशेष दोनों धर्मों से युक्त मानता है। वस्तुत: सामान्य और विशेष अन्योन्याश्रित हैं।

२. संग्रहनय

प्रत्येक वस्तु में सामान्य ओर विशेष धर्म रहते हैं किन्तु विशेष गौण करके जो सामान्य को प्रधानता प्रदान करता है, उसे संग्रह नय कहते हैं। जैसे - 'भोजन' शब्द कहने से रोटी, दाल

साग, भात आदि अनेक का संग्रह होता है। अत: 'भोजन' संग्रह नय का शब्द है। इसी प्रकार सेना, वृक्ष, पशु आदि भी संग्रह नय के शब्द हैं।

३. व्यवहार नय

वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके जो विशेष धर्म को ही प्रधानता प्रदान करता है, उसे **व्यवहार नय** कहते हैं। जैसे - व्यवहार नय द्रव्य के छह भेद मानता है तथा उत्तरोत्तर भेद प्रभेदों की प्ररूपणा करता है।

४. ऋजुसूत्र नय

जो वर्तमान कालिक स्वकीय अर्थ को ग्रहण करता है, उसे 'ऋजुसूत्र नय' कहते हैं। एक मनुष्य भूतकाल में राजा रहा हो किन्तु वर्तमान काल में वह भिखारी हो तो यह नय उसे राजा न कहकर भिखारी ही कहेगा क्योंकि वर्तमान काल में वह भिखारी की स्थिति में है।

५. शब्द नय

यह नय पर्यायवाची शब्दों को एकार्थवाची मानता है परन्तु काल, कारक लिङ्ग संख्या पुरुष आदि के कारण यदि उसमें भेद हो तो इस भेद के कारण एकार्थवाची शब्दों में भी यह अर्थ भेद मानता है। जैसे- नर-नारी-पुत्र-पुत्री, पहाड़-पहाड़ी। स्पष्ट है कि नय किसी एक अपेक्षा का अवलम्बन स्वीकार करता है। वह अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वचन के लिए पृथक्-पृथक् होती है। नयवाद वस्तु में सन्निहित अनेक सत्यधर्मों का रहस्योद्घाटन करता है।

❖ न्यास/निक्षेप ❖

विश्व के सर्वव्यवहार तथा ज्ञान भाव के लिए प्रमुख साधन भाषा है। भाषा, शब्दों से बनती है, वे शब्द; प्रयोजन अथवा प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थ प्रदान करते हैं। लक्षण और भेदों के द्वारा विश्व के पदार्थों का ज्ञान जिससे विस्तार के साथ हो सके - ऐसे व्यवहार रूप उपाय को न्याय या निक्षेप कहते हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहा है -

नाम - स्थापना - द्रव्य - भावतस्तन्न्यासः

इससे ज्ञान होता है कि न्यास/निक्षेप चार प्रकार के होते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार अनुयोगों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का न्यास-निक्षेप अर्थात् लोक-व्यवहार होता है -

१. नाम निक्षेप

वस्तु का नाम ही नामनिक्षेप कहलाता है। अर्थात् जिस शब्द की व्युत्पत्ति आदि से भी सार्थकतासिद्ध नहीं होती है, केवल लोकरूढि से ही संकेतित है उसको नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे - जीव या अजीव किसी भी द्रव्य की 'जीव' संज्ञा रख देने से उसको नाम जीव कहते हैं।

२. स्थापना निक्षेप

स्थापना का तात्पर्य है - आकृति या प्रतिबिम्ब। किसी भी काष्ठ चित्र अक्ष निक्षेप आदि में 'यह जीव है' इस प्रकार का

आरोपण स्थापना - जीव कहलाता है। जैसे - मूर्ति में यह रुद्र हैं विष्णु हैं इन्द्र हैं इत्यादि। किसी वस्तु में अन्य वस्तु का आरोपण स्थापना निक्षेप कहलाता है।

३. द्रव्य निक्षेप

वस्तु की भूतकाल या भविष्य काल की अवस्था द्रव्यनिक्षेप कहलाता है। अर्थात् जो अर्थ भाव निक्षेप की पूर्व अवस्था हो या उत्तर अवस्था रूप हो उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी राजपुत्र को युवराज या राजा कहना। वह वर्तमान काल में राजा नहीं है किन्तु भविष्यत् काल में होने वाला है। अत: उसको वर्तमान काल में राजा कहना 'द्रव्यनिक्षेप' का विषय है।

४. भाव निक्षेप

संसार में विद्यमान वस्तु की वर्तमान अवस्था **'भाव निक्षेप'** कहलाती है। अर्थात् किसी भी वस्तु का उसकी वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से कथन भाव निक्षेप कहलाता है। जैसे वर्तमान में प्रधानमंत्री के पद पर कार्यरत नेता को प्रधानमन्त्री कहना।

निक्षेप चतुष्टयी को सर्वद्रव्यों की अपेक्षा से घटित करके मोक्षमार्ग के लिए उनका भावरूप जानना नितान्त अनिवार्य है। भावनिक्षेप के अभाव में शेष तीनों निक्षेप निष्फल ही हैं। निक्षेप वस्तु के पर्याय हैं, स्वधर्म भी। अतएव **विशेषावश्यक भाष्य** में कहा है -

चत्तारो वत्थु पज्जवा

❖ कर्म सिद्धान्त ❖

आस्तिक दर्शनों में 'कर्म' को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। जैनेतर दर्शनों में कर्म के सन्दर्भ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है किन्तु जैसा विशद विवेचन जैनागम दर्शन में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'कर्म' के सन्दर्भ में आचार्य श्री सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब ने 'जैन सिद्धान्त कौमुदी' में व्यापक प्रकाश डाला है -

सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिः सर्वैरेव स्वीकृता।
प्रसङ्गात् कर्मवादोऽयं त्वधुना समुपस्थितः॥

कर्म मूलमिदं विश्वं निर्विवादमिति स्थितिः।
तानि कर्माण्यनेकानि, परेषामिति सम्मतिः॥

अष्टौ चैवेह कर्माणि, गणितानि जिनोत्तमैः।
जीवेन सह प्रोतानि, सूत्रे मणिगणा इव॥

अनादीन्यपि कर्माणि, सहजान्यात्मना सम्म्।
क्षीयन्ते ज्ञानतपसा, तापैर्लोहमलं यथा॥

तानि चेह विभक्तानि ज्ञेयानि द्विविधानि च।
धातीनि चाप्यधतीनि यथार्थनामकानि च॥

चत्त्वारि पूर्वधातीनि त्वधातीनि पराणि च।
क्रमेणैषां च नामानि, गणयामि निबोधत॥

ज्ञानावरणकं त्वाद्यं दर्शनावरणं परम्।
मोहनीयं तृतीयं स्याच्चतुर्थं चान्तरायम्॥

पंचमं वेदनीयं स्यात् षष्ठं नामकर्मभाक्।
सप्तमं गोत्रकर्मेति त्वष्टमं चान्तरायकम्॥

कर्मग्रन्थ में कर्म का तात्विक एवं मनोवैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है -

कीरइ जीएण हेउहिं जेणं तु भण्ण एकम्मं[1]

अर्थात् जीव की शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक शुभाशुभ क्रिया या मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय आदि योगों के कारण राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से चुम्बक की तरह आत्मा जो कुछ करता है वह कर्म कहलाता है। यह बात प्रवचनसार की इस गाथा से सुस्पष्ट है -

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं॥

कर्म के मूलत: आठ प्रकार हैं -

१. ज्ञानावरणीय कर्म	५. वेदनीय कर्म
२. दर्शनावरणीय कर्म	६. नामकर्म
३. मोहनीय कर्म	७. गोत्रकर्म
४. अन्तरायकर्म	८. आयुष्य कर्म

१. कर्मग्रन्थ प्र.भा.गा. १

प्रत्येक कर्म के उत्तर प्रकृतियों की गणना भी विद्यमान है। 'कर्म' का विशिष्ट परिशीलन करने के लिए उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन तथा कर्मग्रन्थ का विधिवत् परिशीलन करना चाहिए।

❖ लेश्या ❖

आचार्य श्री ने लेश्या के सम्बन्ध में भी सरल रीति से सारगर्भित श्लोकों के माध्यम से विवेचन किया है -

आत्मनः परिणामाश्च नैकधाः सन्ति विश्रुताः।
सत्त्वानुगाश्च षड्लेश्या गणिताः तीर्थनायकैः॥

कृष्णादयश्चतस्रः ताः न वरा दुःखदा मताः।
पद्मा-शुक्ला उभे श्रेष्ठे जीवानां हितकारिके॥

(जैन सि.कौ. ५३५-५३६)

अध्यवसायों की तरतमता को जैनदर्शन में 'लेश्या' कहते हैं। लेश्या के छह प्रकार हैं -

१. कृष्ण लेश्या
२. नील लेश्या
३. कापोती लेश्या
४. तेजो लेश्या
५. पद्मा लेश्या
६. शुक्ल लेश्या

अध्यवसायों के तीव्र व मन्द होने के अनुसार शरीर प्रवाहित पुद्गल में लेश्याओं के रंगों की झलक प्राप्त होती है। लेश्याओं के

रंग, गन्ध रस तथा स्पर्श के सन्दर्भ में जैनागम शास्त्रों में विशद विवेचन है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३४ तो सम्पूर्ण रूप से लेश्या प्रकरण से ओत-प्रोत है। उत्तराध्ययन के अनुसार षड्लेश्याओं के वर्ण का निरूपण-

जीमूत निद्धसंकासा गवल रिट्ठगसन्निभा।
खंजंजजण-नयणनिभा किण्हलेसा उ वण्णओ।

नीलासोग संकासा, चासपिंछसमप्पभा।
वेरुलियनिद्धसंकासा नीललेसा उ वण्णओ।।

अयसीपुप्फसंकासा कोइलच्छदसन्निभा।
पारेवय-गीवनिभा काउलेसा उ वण्णओ।।

हरियलभेय संकासा हलिद्दाभेयसन्निभा।
सणासण-कुसुभनिभा पम्हलेसा उ वण्णओ।।

संखक-कुंदसंकासा खीरपूरसमप्पभा।
रयय-हारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ।।

इसी प्रकार गन्ध,रस तथा स्पर्श आदि का विशद वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में विद्यमान है। आचार्य श्री ने भी पर्याप्त वर्णन प्रस्तुत प्रणयन में सरलता से किया है।

जैन धर्म दर्शन के स्याद्वाद आदि समस्त मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में आचार्य श्री की लेखिनी प्रशस्त रूप से समर्थ हुई

है। सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों परभी आपने व्यापक प्रकाश डाला है। जैनमत स्थापना करते हुए आपने जैनेतर दर्शनों के मौलिक सिद्धान्तों को उपयुक्त रीति से साधिकार प्रदर्शित कर प्रस्तुत ग्रन्थ की गरिमा बढ़ा दी है। यत्र तत्र समन्वय की रति का प्रस्फुटन आपकी सदाशयता का प्रतीक है।

यह ग्रन्थ जिज्ञासु मुनिराजों, दर्शन के विद्यार्थियों एवं शोधकर्त्ताओं के लिए नितान्त उपादेय सिद्ध होगा - इसी मंगल मनीषा के साथ -

- शुभाकांक्षी

आचार्य शम्भुदयालपाण्डेय

व्याकरणाचार्य, साहित्यरत्न,

एम.ए., शिक्षाशास्त्री

10/430, नन्दनवन

कुलवन्ती कुञ्ज, जोधपुर-8

फोन : 2755647

卐

मंगलाचरणम्

(१)

शासनाधिपतिं वन्दे सन्मतिं सत्यदर्शकम्।
यत् प्रसादात् प्रलीयन्ते, मोहान्धतमसश्छटाः ॥

(२)

गणभृद्गौतमं नौमि सर्वलब्धिनिधिं परम्।
यत् कृपालवमात्रेण, मन्दोऽपिशुद्धधीर्भवेत् ॥

(३)

श्वेताम्बरधरं दिव्यं ज्ञान-विज्ञानभास्करम्।
नेमिसूरीश्वरं वन्दे, तीर्थोद्धार-धुरन्धरम् ॥

(४)

नौमि लावण्यसूरीशं विद्यावारिधिमन्दरम्।
तत् प्रसादात् सुखं कुर्वे, जैनसिद्धान्त कौमुदीम् ॥

(५)

कविरत्न दक्षसूरीशं जैन शास्त्र विशारदम्।
संयमे भ्राजमानं तं वन्दे सिद्धान्तलब्धये ॥

पदार्थ विवेचनम्

(१)

पदार्था विपुला लोके मतयोऽनेकधा पुनः।
यस्मै यद् रोचते शश्वत् तमाश्रित्य प्रवर्तते॥

(२)

जैनानां च विज्ञाने, पदार्था सप्त कीर्तिताः।
आत्मोपकारकास्ते हि, क्रमात्तान् गणयाम्यहम्॥

(३)

धर्मोऽधर्मो नभो जीवः पुद्गलोऽनेहसस्तथा।
पर्यायसहिताश्चैते क्रमेण परिकीर्तिताः॥

(४)

लक्षणेन विना लक्ष्यविज्ञानं नैव जायते।
निर्दोषं लक्षणं विज्ञैर्विधेयं सुप्रयत्नतः॥

(५)

गुणपर्यायवद् द्रव्यं क्रियते स्याद्विपश्चिता।
पुद्गलाऽपुद्गलाः सर्वे गुणवन्तः सन्ति सर्वदा॥

(६)

द्वन्द्वाभिधे समासे तु चाभ्यर्हितं पदं हि यत्।
तदेव प्रथमं प्राज्ञैः प्रयोक्तव्यं प्रयत्नतः॥

(७)

धर्मादभ्यर्हितं चान्यन्नैवेति भुवनत्रये।
तेन धर्मपदं पूर्वं प्रयुक्तं तत्त्ववेदिना॥

(८)

किं धर्मः किमधर्मो हि कवयस्तत्र मोहिताः।
तत् स्वरूपं त्वया प्रोच्य येन कार्यं प्रवर्तताम्॥

(९)

शृणुष्ववहितो विज्ञ! तत्स्वरूपं वदाम्यहम्।
विश्वं विध्रियते येन धर्मोऽसौ कथितो जिनैः॥

(१०)

धृञ् धारणको धातुधारणार्थे निरूपितः।
धृते मश्चेति सूत्रेण प्रत्ययो मो विधीयताम्॥

(११)

कृते गुणे च रपरे धर्मशब्दो निरुपितः।
धर्मश्च सेवितो नित्यं धर्मो रक्षति सर्वदा॥

(१२)

चतुरः पुरुषार्थान् हि प्रयच्छति सुसेवितः।
तथापि विकला लोका नाश्रयन्ति च सर्वदा॥

(१३)

धर्मात्तपति सूर्य्यायोऽयं धर्माद् धरति भूरियम्।
धर्माच्चलति लोकालोऽयं, धर्मो जागर्ति निद्रिते॥

(१४)

महती धर्ममहिमा कथिता जिनपुङ्गवैः।
तथापि विह्वलो लोको, मुधा धावति सर्वतः॥

(१५)

शुक्लादयो गुणाः सर्वे वर्तन्ते भूतलादिषु।
परिवर्तनशीलास्ते तेनैति च पर्यायिण॥

(१६)

अपौद्गलिक जीवोऽपि सोऽपि ज्ञानगुणान्वितः।
कर्मणां वशगो भूत्वा नानायोनिषु जायते॥

(१७)

तेन पर्यायवानात्मा घटते द्रव्यलक्षणम्।
निर्दोषं लक्षणं चेदं लक्ष्येषु दर्शितं मया॥

(१८)

प्राथम्यं धर्मद्रव्यस्य युक्त्या च विनिवर्णितः।
अधुना लक्षणं तस्य क्रियते तन्निशम्यताम्॥

(१९)

जगतां धारणाद् धर्मः कथितः पूर्वसूरिभिः।
ध्रियते येन भूम्यादि धर्मोऽसौ साधुनामभाक्॥

(२०)

सर्वेषां सम्मतमिदं निर्विवादेन दर्शितम्।
जपादिध्यानज्ञानादिः तत्रापि प्रविलीयते॥

(२१)

पुद्गलाऽपुद्गलाः सर्वे गतिमन्तो जिनागमैः।
विना क्रियां गतिर्नास्ति नैव प्राप्तिः परत्र च॥

(२२)

एषा व्याप्तिर्न्यायग्रन्थे स्वीकृता न्यायवेदिभिः।
वस्तुस्वभावो धर्मो हि भाषितो जिनशासने॥

* धर्मस्योपकाराः कथ्यन्ते *

(२३)

गतिमन्तः पदार्था ये भूम्यादिपरमाणवः।
तेऽपि संमील्य संमील्य भवन्ति कार्यकारिणः॥

(२४)

धर्ममाक्षिप्य सर्वे ते व्याप्नुवन्ति जगत्त्रयम।
यथा वैज्ञानिका यानैर्गाहन्ते गगनाङ्गणम्॥

(२५)

गमने शक्तिमन्तोऽपि मीनाः पीनाः मलीमसाः।
जलाधारं विना नैव पदमेक व्रजन्ति ते॥

(२६)

आश्रित्य तु घनं नीरं पोतायन्ते क्षणेन च।
धर्मोऽयं चोर्ध्वगमने सर्वेषामुपकारकः॥

(२७)

अन्वर्थं भजते नाम गतौ प्रत्युपकारकः।
उपयोगितापि धर्मस्य दिङ्मात्रेण निरूपिता॥

* भेदमाह *

(२८)

असंख्येयप्रदेशेऽसौ निरूपी निष्क्रियोऽपि सन्।
एकं द्रव्यं समाख्यातो धर्मो धर्मविदां वरैः॥

(२९)

प्रदेशबहुलं द्रव्यं व्यापकं जिनशासने।
प्रदेशेन विना ह्रस्वदीर्घो न स्मान्महानिति॥

(व्यवहार इति शेषः)

(३०)

प्रदेश बहुलैः सर्वे चर्चिताः पर्वतादयः।
व्याप्नुवन्ति जगत् सर्वं प्रदेशबहुला जडाः॥

* अधर्मलक्षणं, तस्योपयोगः *

(३१)

सर्वशास्त्रनिषिद्धं यन्मन्दैर्लोकैः प्रवतितम्।
अधोगतिकरं शश्वद् सर्वेभ्यो भयदायकम्॥

(३२)

अधर्मं तं विजानीहि सदा धर्मविरोधकम्।
निरोधकं सुकार्याणामधर्म जगदुर्जिनाः॥

(३३)

कायार्थी पथिकः कामं व्रजन् मार्गेऽतिवेगतः।
कामं श्रान्तो न वा कोऽपि विरन्तुं नेहते पुनः॥

(३४)

प्राप्याऽकस्माद् घनच्छायामगत्या तत्र तिष्ठति।
छायैव रोधिका तस्य नान्यः सम्यग् विविच्यताम्॥

(३५)

तथैव गतिमन्तो हि पुद्गलाजीवराशयः।
स्वभावतश्चोर्ध्वगन्तारो लोकान्तव्रजिष्णवः॥

(३६)

छाया भोऽसावधर्मोऽपि तान् रुणद्धि न संशयः।
निरोधलक्षणोऽधर्मः साधूक्तं जिनशासने॥

(३७)

नाऽभविष्यद् धर्मो हि गतिमन्तोऽप्यपुद्गलाः।
लोकाकाशमतिक्रम्य चालयन्तः परत्र वै॥

(३८)

लोकान्तचरमे भागे काचिद् सिद्धशिला वरा।
सिद्धास्तत्रैव तिष्ठन्ति श्रीमतामर्हतां मते॥

(३९)

अन्यथा परतस्ते स्युरतोऽधर्मो निरोधकः।
निरोधलक्षणोऽधर्मः समासेन निरूपितः॥

(४०)

* क्रमप्राप्तमिदानीं नभोलक्षणमुच्यते - *

(४१)

विशेषगुणेष्वेकं शब्दाख्यं गुणकं परम्।
आकाशं कथितं विज्ञैर्न्यायमार्गानुगामिभिः॥

(४२)

जीवानां पुद्गलानां च ह्यवकाशप्रदं सदा।
रूपादिरहितं व्योम जैनागममते मतम्॥

(४३)

महतापि प्रयासेन विभागो नास्य जायते।
अप्रदेशी पदार्थोऽसौ कथितो जिनपुङ्गवैः॥

(४४)

पृथिव्यादिपदार्थानामनन्ताः परमाणवः।
ते चाऽप्रदेशिनो ज्ञेया विभागादिविवर्जिताः॥

(४५)

सूक्ष्माश्च वादराश्चेति विभागो जिनशासने।
सूक्ष्मासु वचाणवः प्रोक्ताः वादरा दृष्टिगोचराः॥

(४६)

आकाशे ते प्रतिष्ठन्ते स्वीयेन परिणामतः।
माहन्तेऽप्यवकाशं गगनं निजवाहनैः॥

(४७)

आकाशस्योपकारं हि चैतावन्मात्रमेव हि।
दत्त्वावकाशं चैतेभ्यः, विक्रियां नैतितद्गुणैः॥

(४८)

आकाशस्योपयोगं हि लक्षणं सप्रमाणकम्।
मया व्यावर्णितम् चेह जीवलक्षणमुच्यते॥

* प्रसङ्गाज्जीवस्वरूपं तस्योपकारं चाह *

(४९)

यो हि जीवति सर्वत्र देशकाले चलाचले।
जीविष्यति त्वजीवज्च जीवोऽसौ कथितो बुधैः॥

(५०)

जीवप्राणने धातुर्हि भवादिषु गणितो बुधैः।
पचादेरञ् विधानेन जीवः संपद्यते शिवः॥

(५१)

उपयोगलक्षणो जीवो गमने च करोति सः।
पीडयेन्नैव यो जीवान् स्वात्मवन्मनुते सदा॥

(५२)

देहमात्रप्रमाणोऽसौ व्यापको न्यवनुन्वहि।
स्वकर्मवशगो भूत्वा नाना योनिषु भ्राम्यति॥

(५३)

बध्यते कर्मभिर्जीवो मुच्यते गतकर्मभिः।
संकोचश्च विकासश्च देहेऽस्मिन् दीपधर्मवत्॥

(५४)

यथा दीपो गृहेस्वल्पे स्वल्पया प्रभया हि सः।
विद्योतयति तद् गेहं वस्तुजातं यथा सुखम्॥

(५५)

कक्षे च वितते सैव वर्तिका वर्धनेन च।
महतापि प्रकाशेन तद् भासयतीति दृश्यते॥

(५६)

एवमात्मागतस्थापि लूतया देहभागतः।
संकोच्य निजात्मानं तत्र तिष्ठति सर्वदा॥

(५७)

जैनी शैलिरियं प्रोक्ता, मन्यन्ते नापरे बुधाः।
परिणामो यत्र वा दृष्टः, नश्वरः परिकीर्तितः॥

(५८)

जीवो नश्वरस्तेषां मते पर्यायभेदतः।
देवादिगतिमान् जीवो नैष दोषो जिनागमे॥

(५९)

यथा वास्तु तथा वास्तु नैव चास्ति ममाग्रहः।
जैनागममतेनैव जीवरूपो मयोदितः॥

* अधर्मस्वरूपमाह *

(६०)

अधर्मस्य स्वरूपं हि कथ्यते चार्हतां मते।
पुद्गलानां च जीवानां गच्छतां गतिरोधकम्॥

(६१)

नतु हिंसात्मकोऽधर्मः जीवानां वधकारकः।
रूढोऽसौ कथितः शास्त्रे यौगिकश्चेह गृह्यते॥

(६२)

व्रजतां पथि पान्थानां वेगेन श्राम्यतामपि।
सघना शाखिनां छाया यथा गतिनिरोधका॥

(६३)

अनिच्छन्तोऽपि वै सार्था, विरमन्ति ध्रुवं तदा।
विश्राम्यन्ति यथा तत्र, प्रकृते वेद तादृशम्॥

(६४)

सिद्धरूपाश्च ते जीवा लघवो रिक्तकर्मणा।
उच्चैर्यान्ति स्वभावेन सिद्धायतनमेव हि॥

(६५)

परत्र गमने शक्तिस्तेषां नास्ति निरोधकः।
अधर्माख्याभिधोऽधर्मो रुणद्ध्येव न संशयः॥

(६६)

वस्तु स्वभावो धर्मो लक्षणं जिनशासने।
अधर्माख्यं वस्तु चैतत् स्वभावात् रोधयत्यलम्॥

* ज्ञानभेदछस्वरूपं वर्ण्यते *

(६७)

प्रसङ्गतो ज्ञानभेद स्वरूपं वर्णयाम्यहम्।
हेयोपेयं विजानाति तज्ज्ञानं कथितं बुधैः॥

(६८)

तत्त्वाऽतत्त्वे च ज्ञायेते येन तज्ज्ञानमीरितम्।
अवग्रहादिभेदेन तज्ज्ञानं चतुर्विधम्॥

(६९)

अवग्रहात्ततश्चेहा अपायो धारणा तथा।
इदं चतुर्विधं ज्ञानं शिला ज्ञानालयेऽपि वै॥

(७०)

व्रजन् मार्गे दृष्टमात्रं दूरे किमिति दृश्यते।
जायते या मतिः सा हि कथितोऽवग्रहः स च॥

(७१)

ततः प्रजायते चेहा ज्ञातव्यं किमदोऽस्ति वै।
सा चेहा कथिता प्राज्ञैः तदर्थं यतते यतः॥

(७२)

अपायो मानुषो वेति, अपरेणापि भाव्यते।
मानव एव चेष्टाभिर्गमनाद् धारणोदिता॥

(७३)

सामान्यज्ञानमेवैतद् किञ्चिन्मात्रप्रकाशनात्।
निर्विकल्पमिदं ज्ञानं न्यायतत्त्वगवेषिणाम्॥

(७४)

बौद्धास्तु निर्विकल्पं हि शुद्धं प्रोचुर्विशुद्धतः।
विशेष विशेष्यैश्च यद्ज्ञानं, ज्ञानं दूष्यतितन्मते॥

(७५)

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च येन वै क्रियते बुधैः।
तज्ज्ञानं मुनिभिः प्रोक्तं नाम्ना पूर्वं न वस्तुतः॥

(७६)

पुनः पञ्चविधं ज्ञानं जिनाज्ञापथिवर्तिनाम्।
मतिश्रुतावधिचित्त-पर्यायकेवलानि च॥

(७७)

किमिहास्ति मतिज्ञानं शृणुतत् कथयामि ते।
इन्द्रियार्थसंधिजातं ज्ञानमाद्यमुदीरितम्॥

(७८)

श्रूयते गुरुवाक्येभ्यः चक्षुषा वर्णवीक्षणात्।
पठनाल्लेखनाच्चापि श्रुतं ज्ञानं प्रजायते॥

(७९)

अवधिर्नैव सर्वेषां शुद्धसंयमशालिनाम्।
संयमातिशयेनैव ज्ञानावरणक्षयात् समैः॥

(८०)

उदेति चावधिज्ञानं रूपीद्रव्यप्रकाशकम्।
सीमया सीमितं चापि सदर्थं परिकीर्तितम्॥

(८१)

तच्चानेकविधं प्रोक्तमनुगामिनानगं पुनः।
क्षेत्राद्यपेक्षया चेदं लघीयो वा महत्तरम्॥

(८२)

संयमेऽतिशयेनैव तपसापि महीयसा।
ज्ञानाऽवर्णांशनाशेन तथा चोपशमेन च॥

(८३)

मनः पर्यायकं ज्ञानं प्रादुर्भवति योगिनाम्।
विशुद्धचेतसां चैव मनःपर्यायवेदकम्॥

(८४)

अपातिः प्रतिपातीति द्विविधं चरितं बुधैः।
भाविज्ञेय ज्ञानस्य सत्यापनसहोदरः॥

(८५)

हीयमानं वर्धमानमित्यपि मन्यते बुधैः।
एवं मत्यादिकं ज्ञानं कथितं हि चतुर्विधम्॥

(८६)

पञ्चमं केवलं ज्ञानं ज्ञानानां चक्रिनायकम्।
कथयामि यथा योग्यं शृणवन्तु खलु सज्जनाः॥

(८७)

संयमे परया ऋद्धया घोरेण तपसा पुनः।
ज्ञानावरणमूलस्य मूलतः प्रलयं गते॥

(८८)

जायते केवलालोको, विश्वमालावभासकः।
सर्वेषामपि द्रव्याणां पर्यायाणां विशेषतः॥

(८९)

आवेदको महान् भानुर्भानोर्भासां विजित्वरः।
सुराऽसुरैर्नराधीशैः सर्वैश्चापि नमस्कृतः॥

* केवल च कथंतच्च सयुक्त्या वणर्यते *

(९०)

ज्ञानान्तराणि सहाय्यं संश्रित्य कुर्वते क्रियाम।
केवलं निरपेक्षं हि विश्वमात्रावभासकम्॥

(९१)

चक्रिणश्चाज्ञया सर्वे स्वाधिकारं वितन्वते।
चक्रीशश्च स्वया मत्या व्यवस्थां कुरुते सदा॥

(९२)

भास्करे केवले जाते पूर्वज्ञानचतुष्टयम्।
तत्रैव लीयते भानावुदिते ग्रहदीप्तयः॥

(९३)

अतस्तत् केवलज्ञानं ब्रह्मज्ञानं सनातमनम्।
आत्मज्ञानं परे प्राहुः स्वस्वशास्त्रपरायणाः॥

(९४)

एवं हि पञ्चकं ज्ञानं यथायोग्यं यथाक्रमम्।
सप्रमाणं च दृष्टान्तसहितं मयकेरितम्॥

(९५)

तेषां भेदाः प्रभेदाश्च कविभिर्वर्णिताः पुरा।
सिंहावलोकमाश्रित्य कथ्यन्ते मयका पुनः॥

(९६)

त्रिधा दर्शनं प्रोक्तं चक्षुरादि प्रभेदतः।
अचक्षुदर्शनं चापि वर्ण्यते मुनिपुङ्गवैः॥

(९७)

परे तु दृश्यते यत् तत् सर्वमाहुर्हि दर्शनम्।
अवध्याद्युपयोगेन दृश्यते जिनशासने॥

(९८)

चक्षुषा प्रेक्ष्यते यच्च चन्द्रियैरपि यच्च वै।
तच्चक्षुदर्शनं प्रोक्तं रूपादिमात्रदर्शकम्॥

(९९)

मनसा लभ्यते यच्च तथैवावधिनापि च।
अचक्षुदर्शनं चैतत् आत्मचित्तोपयोगजम्॥

(१००)

दृश्यमात्रभिदं विशवं सर्वं चेह विलोक्यते।
मनसा चक्षुषा ज्ञाने दृश्यं विश्वं परे विदुः॥

(१०१)

व्यञ्जनावग्रहं चैवमथावग्रहमेव वा।
सामान्यवग्रहं यच्च व्यञ्जनावग्रहं मतम्॥

(१०२)

किं वस्तु कीदृशं चेति ह्यर्थावग्रह एव सः।
निर्विकिल्पप्रभेदास्ते मन्यन्ते परतीर्थकैः॥

(१०३)

ज्ञानाब्धिमथने लीनैः मन्यन्ते जैनधीश्वरैः।
ज्ञानभेदप्रभेदाश्च, कार्यकारणभेदतः॥

(१०४)

इदानीमिन्द्रियजन्यं ज्ञानं च वण्यते मया।
सप्रमाणं सदृष्टान्तं शृण्वन्तु ज्ञानशंसिनः॥

(१०५)

किमिन्द्रियं कायास्ति किमस्ति तत् प्रयोजनम्।
कियन्तो विषया भेदा महान्तो विषया इमे॥

(१०६)

प्रत्यक्षं त्रिविधं ज्ञानमवधिः प्रथमं मतम्।
मनः परिणतिश्चेति द्वितीयं केवलं परम्॥

(१०७)

इन्द्रियैर्जनितं ज्ञानं परोक्षं परिकीर्तितम्।
परयोगं विना क्वापि स्वतो नैवोपजायते॥

(१०८)

मतिज्ञानान्वितं ज्ञानं श्रुताभ्याससमुद्भवम्।
श्रुतज्ञानं च तद् विद्धि परोक्षमिदमप्यहो॥

(१०९)

स्पष्टं प्रत्यमेवेति विशदार्थविबोधकम्।
अस्पष्टं नेत्रजं ज्ञानं मन्दाद्यर्थ प्रकाशकम्॥

(११०)

यथोपनेत्रजं ज्ञानं परोक्षं जिनशासने।
अन्याधीनेन जायेत हिमाच्छन्ने दिवाकरे॥

(१११)

तच्चापि द्विविधं ज्ञेयं सव्यवहारि च तर्विकम्।
व्यवहारसाधकं चायं प्रलिधिर्नृपतेः सखा॥

(११२)

आत्मोपकारकं ज्ञानं तच्चैव पारमार्थिकम्।
नामुना लोककार्याणि सिध्यन्ति क्षारबीजवत्॥

(११३)

सामान्य तो द्विधा ज्ञानं प्रत्यपादिविभेदतः।
निरूप्य कति सन्तीह चेन्द्रियणिति प्रोच्यते॥

(११४)

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव, स्पर्शनघ्राणभदेतः।
शीताशीतग्रहो येन जायते ननु देहिनः॥

(११५)

स्पर्शेन्द्रियं देहव्यापि मन्यन्ते तार्किका अपि।
अभ्यर्हितं पुरा तेन गण्यते जिनशासने॥

(११६)

द्रव्याश्रितानि रूपाणि नीलपीतादिभेदतः।
नानाविधानि ज्ञायन्ते, चक्षुषा चेन्द्रियेण च॥

(११७)

षड्विधं च रसं यद्धि विजानाति निरन्तरम्।
रसनेन्द्रियमित्याहुः सततं रसतीह यत्॥

(११८)

जिघ्रति भूमिगं गन्धं सौरभाऽसौरभं हि यत्।
घाणेन्द्रियं विजानीहि घोणाग्रापरिवर्तनम्॥

(११९)

व्योममात्रस्थितं शब्दं गृहणाति गगनं न तु।
श्रवणेन्द्रियं च विज्ञेयं कर्णशष्कुलिसन्निभाम्॥

(१२०)

विषयैः सह पञ्चापि, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च।
गणितानि यथायोग्यं भेदोऽप्यन्यो निरूप्यते॥

(१२१)

निर्वृत्तिरूपकरणं च द्रव्येन्द्रियमुदीरितम्।
इन्द्रियाणां हि रचना, पुद्गलैरेव जायते॥

(१२२)

आकृतिश्चक्षुरादीनाम् सर्वैरेव विलोक्यते।
निर्वृत्तिरिन्द्रियं ज्ञेयमुपकरणमिहोच्यते॥

(१२३)

उपकारकरं द्रव्यमुपकरणं कथितं बुधैः।
नेत्ररक्षाकरं यच्च पुटपलकादिनिबोधत॥

(१२४)

लब्धिरक्षोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदीरितम्।
यया शक्त्या हि लभ्येत रूपादिविषयाः सखे॥

(१२५)

भावेन्द्रियः स विज्ञेयः रूपादीनां प्रकाशकः।
लब्धौ सत्येव गृह्यन्ते शब्दादि विषयाःसमे॥

(१२६)

उपयोगः स विज्ञेयः बहुधा चित्तयोगतः।
कार्यार्थमुपयुज्येत वृथा नो बालचेष्टितम्॥

* सम्प्रति मनसो लक्षणं प्रस्तयूते तावत् *

(१२७)

अनिन्द्रियं मनः प्रोक्तं द्रव्य भावप्रभेदतः।
इन्द्रियैश्च समायुक्तं द्रव्यमात्रप्रकाशकम्॥

(१२८)

आत्मना सह संयोगात् ज्ञानादिकविबोधकम्।
भावेन्द्रियं तदा ज्ञेयं भावश्चात्मगुणो मतः॥

(१२९)

मत्यादिसंगतं चित्तं मतिभेदप्रपञ्चकम्।
श्रुतेनानुगतं तच्च श्रुतार्थपर्यवेक्षकः॥

(१३०)

अवग्रहादयश्चापि पुरैव परिकीर्तिता।
न संशयं विना चेहा, भिन्नं ज्ञानमतो द्वयम्॥

(१३१)

चतुर्दशविधं जैनैः श्रुतज्ञानं प्रकीर्तितम्।
तच्चापि युगमं प्रोक्तम् अङ्गान्तरबहिर्भिदा॥

(१३२)

इमानि द्वादशाङ्गानि लिख्यन्ते मयका क्रमात्।
सुत्रादीन्यपि चाङ्गानि विज्ञेयानि सुमेधसा॥

(१३३)

आचाराङ्गं हि प्रथमं परं सूत्रकृताङ्गकम्।
स्थानाङ्गञ्च तृतीयं हि समवायाङ्गं चतुर्थकम्॥

(१३४)

व्याख्याप्रज्ञप्तिकं बाणं ज्ञाताधर्मकथारसम्।
उपासकदशाङ्गं च सप्तमं कथितं बुधैः॥

(१३५)

श्रेयान्तकदशाङ्गञ्च ह्यष्टमं सूत्रमीरितम्।
अनन्तरोपपत्तिं च नवमं चाङ्गमीरितम्॥

(१३६)

प्रश्नव्याकरणं दिक्च विपाकसूत्ररुद्रकम्।
दृष्टवादात्मकं सूत्रं द्वादशं कथितं बुधैः॥

(१३७)

प्रसङ्गात् कतिचिद् बाह्यान्यङ्गानि लिखितानि च।
प्रासङ्गिकं न वा त्याज्यमेषा रीतिः सनातनी॥

(१३८)

औपपातिकसूत्रं च, राजप्रश्नीयकं तथा।
जीवाभिगमसूत्रं च परा प्रज्ञापनाऽभिधा॥

(१३९)

प्रज्ञप्तयोऽप्यनेका हि कथिताजिनपुङ्गवैः।
इदानीमवधिज्ञानं द्विविधं लिख्यते मया॥

(१४०)

द्विविधं ह्यवधिज्ञानं जन्मना स्थानतोऽपि वा।
जनुषा सर्वदेवानां तार्किकाणां तथैव च॥

(१४१)

तेन पूर्वभवान् सर्वान् पश्यन्ति दिव्यचक्षुषा।
पश्चात्तापं वितन्वन्ति नरके नार्किकाः पुनः॥

(१४२)

पावनं मानवं जन्म सम्प्राप्य पुण्यसंचये।
धार्मिक प्रवरे क्षेत्रे विरज्य भववासतः॥

(१४३)

गृहीत्वा चर्हतीं दीक्षां सर्वतो विरतीं पराम्।
संयमेन विशुद्धेन घोरेण तपसापि च॥

(१४४)

कर्मावरणकं कर्म निर्धूय मुनिपुङ्गवाः।
लभन्ते चावधि ज्ञानं रूपमात्रावबोधकम्॥

(१४५)

तच्चापि विविधं प्रोक्तं क्षेत्रकालविभेदतः।
अनुगामि चाननुगामि-इत्यपि मन्यते बुधैः॥

(१४६)

हीयमानं वर्धमानं चैतत् स्थानकृत्तमम्।
निजस्थानस्थितो वेत्ति, त्वननुज्ञानकानपि॥

(१४७)

तत् स्थानं परित्यज्य परत्र गतिमान् भवेत्।
तदा नैव विजानाति, स्थानस्य परिवर्तनात्॥

(१४८)

ज्ञानवान् अनुगामी य यत्र कुत्रापि वा व्रजेत्।
देहच्छायेव तज्ज्ञानं नैव मुञ्चति योगिनम्॥

(१४९)

सर्वत्र च काले वा विजानाति त पूर्ववत्।
स्थानेन जनुषा चापि वर्णितं त्ववधिं मया॥

(१५०)

* मन पर्य्यायकं ज्ञानं व्याख्यातुं यततेऽधुना *

वर्धमानं हीयमानं प्रतिपत्तिविवर्जितम्।
मनसः परिणामज्ञं संयमातिशयाद् भवेत्॥

(१५१)

तच्चापि द्विविधं ऋतुविपुलभेदतः।
अवधिज्ञानतः सूक्ष्मं केवलज्ञानसूचकम्॥

(१५२)

संयमातिशयेनैव पञ्चमं ज्ञानभास्करम्।
जायेत पुण्यपुञ्जेन, मुनीनां महतामिह॥

(१५३)

तस्मिन् समुद्गते भानौ लोकाकालावभासके।
चत्वारि पूर्वज्ञानानि तत्रैव विलयन्त्यहो॥

(१५४)

यथोदिते दिवानाथे भुवनत्रयदीपके।
चन्द्रादीनां ग्रहाणाञ्च भासास्तत्राऽलियन्त च॥

(१५५)

तज्ज्ञानं घातिकर्माणां तपसा संयमेन च।
सर्वथा विलये जाते जायते नान्यथा पुनः॥

(१५६)

ब्रह्मज्ञानं परे प्राहुरात्मज्ञानं तथाऽपरे।
केवलं त्वपरं दिव्यं प्रोचुर्जैनसुधीश्वराः॥

(१५७)

निरपेक्षमिदं ज्ञानं विजानाति जगत्त्रयम्।
निराबाधं निरालोकं केवलं तेन कथ्यते॥

(१५८)

सुरासुरनराधीशाः सम्भूय सर्वप्राणिनः।
कुर्वन्ति महिमानं च ज्ञानवर्यस्य चक्रिणः॥

(१५९)

करामलकवद् विश्वं द्रव्यपर्यायभेदतः।
स्वयं तत्र स्फुटत्येव महादर्शे निजंवपुः॥

(१६०)

ज्ञानमेव प्रमाणं हि सर्वैरेव हि स्वीकृताम्।
प्रमेयानां पदार्थानां सिद्धिः स्याद्धि प्रमाणजम्॥

(१६१)

तेन ज्ञानप्रमाणं हि वर्णितं भेदपूर्वकम्।
प्रमाणविषये विज्ञा विवदन्ते परस्परम्॥

(१६२)

प्रमीयन्ते हि वस्तूनि तत् प्रमाणं विदुर्बुधाः।
प्रमायाः करणं यत् तत् प्रमाणं न्यायशासने॥

(१६३)

चक्षुरादीन्द्रियाण्येव प्रमाणं ज्ञानसाधनम्।
पश्यामि चक्षुषा द्रव्यं कर्णाभ्यां शृणोमि च॥

(१६४)

निर्बाधं व्यवहारोऽयं दृश्यते जगतीतले।
इन्द्रियाणि च प्रमाणानि निर्दोषाणि नवागमे॥

(१६५)

प्रमाणं केवलं चैकं प्रत्यक्षं चारुवाङ्मते।
चारु प्रियं सदा वक्तिं चार्वाकं मनुते जनः॥

(१६६)

चारु आवक्ति यो लोके, अण्प्रत्यययोगतः।
यणि चजोरिति कुत्वे चार्वाकश्च यथार्थकः॥

(१६७)

प्रत्यक्षं प्रमाणं च सर्वैरेव च स्वीकृतम्।
तस्मिन् सति न वाचान्यत् प्रमाणं मन्यते बुधैः॥

(१६८)

स्वीकुर्वाणैश्च विद्वद्भिरेवकारो निराकृतः।
प्रमाणत्रितयं नैव स्वीकरोति स मुग्धधीः॥

(१६९)

बुधो बौद्धः प्रमाणे द्वे स्वीकरोत्यनुमा सह।
परे त्रीणि प्रमाणानि मन्यन्ते ह्युपमायुतम्॥

(१७०)

नैयायिकाश्च चत्वारि प्रमाणानि वदन्ति वै।
शब्दाख्यं प्रमाणं तुरीयं तन्मते मतम्॥

(१७१)

गीताकारस्तु शाब्दं हि मुख्यं गणयति स्फुटम्।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ॥

(१७२)

आर्षं तच्च प्रमाणं हि दिव्यज्ञानर्षिभिः कृतम्।
अव्याहतं परं ज्योतिरतीतं भाविवेदकम्॥

(१७३)

उपमानं विहायान्यत् प्रमाणं जिनशासने।
अवध्यादिप्रमाणं प्रत्यक्षमात्मयोगजम्॥

(१७४)

भेदश्चेयान् परं यच्च तदपि कथ्यते मया।
शाब्दं जैनागमं चैव रचितं गणनायकैः॥

(१७५)

आर्षं वेदप्रमाणं जैनैर्नैव स्वीकृतम्।
नापि बौद्धोदितं वाक्यं स्याद्वादपरिवर्जितम्॥

(१७६)

प्रमाणं हि तदेवास्ति निजान्यव्यवसायकम्।
दीपो यथा निजं रूपं द्योतयत्यपरस्य वै॥

(१७७)

सुव्यवस्यति स्वं रूपं वस्तुरूपं स्वभावतः।
तत् प्रमाणं जैनविज्ञैः मुक्तकण्ठैश्च स्वीकृतम्॥

(१७८)

व्यवपूर्वकसोधातोः भावे घञ् इति सूत्रतः।
व्यवसायो हि निष्पन्नो निश्चयार्थस्य बोधकः॥

(१७९)

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यमवग्रहमपि तथा।
न प्रमाणं स्वान्यरूपं प्रकाशयितुमक्षमम्॥

(१८०)

सप्रभेद यथायोग्यं सोपयोगपुरस्सरम्।
विस्तरेण मया ज्ञानं सप्रमाणमुदीरितम्॥

(१८१)

इन्द्रियाण्युपयुक्तानि गणितानि यथाविधि।
सकार्याणि च सार्थानि ह्यात्मनो लिङ्गकानि च॥

(१८२)

प्राप्याऽप्राप्य कराण्यस्मिन् विषयेऽनेकतार्किकाः।
विवदन्ते तदाश्रित्य मतं तेषां निगद्यते॥

(१८३)

इन्द्रियाणि प्राप्यकारीणि सर्वाणि न्यायशासने।
तानि चाप्राप्यकारीणि चार्हतां निर्मलं मतम्॥

(१८४)

प्राप्याऽप्राप्ये च द्वे चैते वदन्ति बौद्धभिक्षवः।
व्यक्तिकरिष्यते युक्त्या यदिष्टं तच्च गृह्यताम्॥

(१८५)

चष्टे चक्षुरिदं प्राप्य द्रव्यं रूपं परं गुणम्।
यथा प्रकाशको दीपः प्राप्य सर्वं प्रकाशयेत्॥

(१८६)

इतिन्यायविदः प्राहुः सर्वत्रेन्द्रियगोचरे।
व्यवधाने दीपवन्नैव क्वापि रूपादिबोधकम्॥

(१८७)

अत एव दह्यते चक्षुः सदैव भास्करं श्रितम्।
शीतायते घनच्छाये व्यवहारो हि दृश्यते॥

(१८८)

भौक्तिके विपुले ग्रस्ते नो वस्तु प्रेक्ष्यते मया।
चिकित्सिते सति प्राग्वत्, प्रेक्ष्यते चैव संस्फुटम्॥

(१८९)

कुड्यादि व्यवधाने च, विज्ञो दति सत्त्वरम्।
नाहं पश्यामि क्वपि त्वां, वद मित्र! निजस्थितिम्॥

(१९०)

इति न्यायविदां शैली दृष्टान्तेन बलीयसा।
दिग्दर्शनं मयाऽकारि विदाङ्कुर्वन्तु सूरयः॥

(१९१)

श्रीमज्जैनमतं चात्र कथयामि सुधीश्वराः।
शृण्वन्तु सावधानेन, रोचते तच्च मन्यताम्॥

(१९२)

स्वदेशस्थितं चक्षुर्व्योमगं वायुयानकम्।
गृह्णाति नयनं श्रोत्रं शृणोति तद्ध्वनिं पुनः॥

(१९३)

कुड्यान्तरिते द्रव्ये प्राप्तं तत्र न लोचनम्।
तेन नो वेत्ति रूपादि नायं दोषोऽत्र विद्यते॥

(१९४)

दूरस्थोऽपि वरः शब्दः कटुर्वा श्रवणान्तरे।
शृणोमि भाषते लोको न शृणोमि न वेद्मि च॥

(१९५)

इति जैनमतं चारु भणितं वर्णितं मया।
एवं चान्यमते चापि भेदोऽपि बहु वर्तते॥

(१९६)

पापीयान् दृष्टिवादोऽयं जानता विदुषा सता।
स्वागमव्यसनेनैव सन्नान्यं नैव गृह्यते॥

(१९७)

प्रमाणं स्याद्युतं वाक्यं सांगिरन्ति जिनेश्वराः।
परे सांशयिकं वादं नाङ्गीकुर्वन्ति कर्हिचित्॥

(१९८)

स्पष्टं केवलं ज्ञानं मया पूर्वं प्ररूपितम्।
सार्थकं सप्रभेदं च सकलं विकलं न हि॥

(१९९)

तद्वान् दोषविनिर्मुक्तश्चार्हन्नेव न चापरः।
तदुक्तमागमश्चैतत् प्रमाणं गणिभिः कृतम्॥

(२००)

कर्मभिश्च कृतं विश्वं न चैव चापरेण हि।
ईश्वरेण च विभुना निष्कामेन कदाचन॥

(२०१)

जैनागमे हि तीर्थेशाः पञ्चमज्ञानसंयुताः।
सर्वज्ञाः कथिता सर्वे तीर्थस्यापि विधायकाः॥

(२०२)

श्रुताख्यं हि प्रमाणेन यज्ज्ञानं जायते पुनः।
शाब्दं तच्च प्रमाणं जैनागम समुद्भवम्॥

(२०३)

जैनागम विशेषेण चान्यागमसमुद्भवम्।
न प्रमाणमिति जैना मन्यन्ते साधुदृष्टयः॥

(२०४)

निष्पक्षो भगवानर्हन् तच्छास्त्रं पक्षवर्जितम्।
तेन जैनागमाच्चान्यच्छाब्दं नैव प्रमाणभाक्॥

(२०५)

संस्कारभवं ज्ञानं स्मरणात्मकम्।
प्रथमं चानुभूतं यत् पौनः पुन्येन शीलितम्॥

(२०६)

जातं संस्कारजं पश्चात् तज्ज्ञानं स्मरणात्मकम्।
तं स्मरामि महातीर्थं पित्रा सागतवानहम्॥

(२०७)

नानुमानं न प्रत्यक्षं भिन्नकारणसम्भवम्।
वर्तमानमतीतांशद्वाभ्यां करणजं पुनः॥

(२०८)

समाने वस्तुनि यच्च दृष्टे कालविपर्यये।
नष्टे चाति तथा दृष्टे देशेनापि भिदां गते॥

(२०९)

सैवैषा शाटिका चास्ति काली पूर्वां धनार्जित।
पाल्यामपि यज्ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाभिधात्मकम्॥

(२१०)

तत्रांशे हि च त्वतीतांशं प्रत्यक्षं चेदमांशके।
प्रत्यक्षं नानुमानं तत् नैव स्मरणमुच्यते॥

(२११)

भिन्नकारणजातं च कृतकालविपर्ययम्।
प्रत्यक्षं वर्तमानं च स्मरणं चापि भावि च॥

(२१२)

अनुमानं व्याप्तिजं भाविप्रत्यभिज्ञा भिदां गता।
जैनागमे त्विदं ज्ञानं परोक्षं परिकीर्तितम्॥

(२१३)

विभिन्नकारणैर्जातं ज्ञानं सव्यावहारिकम्।
शब्दजं चोपमानं हि गवयो गोसदृशस्तव॥

(२१४)

अनेनैव हि ज्ञायेत गोऽभिन्नो गवयस्त्वसौ।
असौ शब्दं विहायैव गोऽभिन्नो गवयो भुवि॥

(२१५)

तिर्यगूर्ध्वादि भेदेव सामान्यं द्विर्विचारितम्।
सर्वासां हि गवां व्यक्तौ दृश्यते चैकरूपता॥

(२१६)

भिन्नेष्वपि सर्वेषु पुद्गलादिकयोगतः।
पुच्छलाङ्गूलशृंङ्गादि सर्वत्रैव हि दृश्यते॥

(२१७)

तच्च तिर्यक्त्व सामान्यं तिर्यचे नैव भिद्यते।
तिर्यक् सामान्यमेवैतद् मन्यते जैनशासने॥

(२१८)

ऊर्ध्वसामान्यमेवैतद् सुवर्णकटकादिषु।
सौवर्णिकपर्यायेन प्रेष्यते विषमादिकम्॥

(२१९)

तथापि कुण्डले हारे चाङ्गुलीयकभूषणे।
सुवर्णनिर्मितं सर्वं सुवर्णस्यैव भूषणम्॥

(२२०)

इदं हि चोर्ध्वसामान्यं भणितं जिनशासने।
सामान्यं द्विविधं न्याये ब्याप्यव्यापकभेदतः॥

(२२१)

पृथित्वादिकसामान्यं व्याप्यं तन्मात्रवर्तनात्।
सत्तारख्यं व्यापकं ज्ञेयं द्रव्य-मात्रविवर्तनात्॥

(२२२)

स्वयं नित्यो ह्यनेकेषु यो धर्म विद्यते खलु।
समवायेन नित्येन, सम्बन्धेन गुणादिषु॥

(२२३)

स धर्मो जातिशब्देन कथ्यते न्यायशासने।
सम्बधसमवायं हि जैनेन्द्रैर्नैव मन्यते॥

(२२४)

नानाव्यक्तिषु यो धर्म एकाकारतया हियः।
भासते सैव जातिर्हि, चार्हतामूर्ध्वतादिकम्॥

(२२५)

यद्वा तद्वास्तु नैवेह पक्षपातो विधीयते।
नानाव्यक्तिग्रहो येन सधर्मो जातिरस्तु वै॥

(२२६)

प्रत्यक्षादिप्रभेदो हि प्रतिपाद्यसविस्तरम्।
अनुमाने प्रमाणेऽपि विवादश्चोपतिष्ठते॥

(२२७)

व्यभिचारादिहीनेन हेतुना व्याप्तिपूर्वकम्।
अनुमानं बुधाः प्राहुरुपसंहारपूर्वकम्॥

(२२८)

व्यभिचारादिकं नैव मनुते स्यान्मतानुगः।
हेतुनैकेन साध्यस्य सिद्धिं स्वीकुरुतेतराम्॥

(२२९)

वह्नौ सत्येव धूमस्य चोत्पत्तिर्दृश्यते क्षितौ।
धूमदर्शनतो वह्निः पर्वते चानुमीयते॥

(२३०)

कारणे सति कार्यस्य चोत्पत्तिर्जायते ध्रुवम्।
नैवायं नियमो लोके विघ्नात् कार्यं न जायते॥

(२३१)

अन्यथा त्वतितप्ते हि गोलके पावकोऽस्ति वै।
कुतो न जायते धूमः पावकस्य स्थितौ वद॥

(२३२)

इति न्यायमतं प्रोक्तं न्यायदर्शनवाङ्मये।
गुणो दोषो मया प्रोक्तं येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

(२३३)

त्रिकालवर्जितो यः स्यात् साध्यसाधनः खलु।
सम्बन्धादिस्तदालम्बमूहाख्यापरनामकम् ॥

(२३४)

उपलब्धेतरोद्भूतं विज्ञानं परिकीर्तितम्।
सत्येवास्मिन् इदं चेति तर्कस्तार्किकशेखरैः॥

(२३५)

स्वार्थपरार्थभेदेन त्वनुमानं द्विधा मतम्।
आत्मीये खलु संदेहे स्वीयतर्कादिना सदा॥

(२३६)

संदेहो यत्र निर्गच्छेत् तत् स्वार्थमनुमानकम्।
हालिकोऽसौ वनं जातो गोपो वा चारयन् पशून्॥

(२३७)

पावको लभ्यते नो वा संदिहानो भ्रमत्यसौ।
गिरेस्तु शिखरे धूमं निर्गच्छन्तं निरन्तरम्॥

(२३८)

समालोक्य स्मृतिः तस्य जागर्ति निजदेहजा।
मदीय भोजनागारे धूमो दृश्यते यदा॥

(२३९)

गृहमध्यगतेऽवश्यः पावकश्चोपलभ्यते।
इहापि प्रेक्ष्यते धूमो गूढोऽग्निर्नैव तादृशी॥

(२४०)

भाव्यं वै वह्निनाऽवश्यं धूमो नैव विनापि तम्।
एवं प्रतिभया युक्त्या सन्देहं च निरस्य सः॥

(२४१)

पर्वतो वह्निमानमस्ति निश्चयो मे न संशयः।
इदं स्वार्थानुमानं च स्वीयसन्देहदूरकम्॥

(२४२)

निरस्य निजसंदेहं परसंदेहवारकम्।
अनुमानं परार्थं तत् परशङ्काविभञ्जकम्॥

(२४३)

धूम्रपायी तु कतरो व्रजन् सारथिना समम्।
बन्धो किमिह वह्निर्वा न चेत् कथय युक्तितः॥

(२४४)

निश्चितो हेतुना वह्निः प्रतिजानाति बन्धवे।
वह्निरस्ति कुतो नैव दृश्यते हि प्रयत्नतः॥

(२४५)

पिहितोऽस्ति शिलाखण्डैः त्वं जानाति कथं वद।
तत् कार्यं दृश्यते धूमः कारणं स्याद् ध्रुवं तदा॥

(२४६)

भवतापि निजावासे सायं प्रातर्व्रजन् गृहात्।
अखण्डाधूमरेखा हि, दृष्टा व्योम्नि सर्पिणी॥

(२४७)

गृहमध्ये तु सम्प्राप्तो वह्निरपि विलोकितः।
तथैवेहापि जानीहि पावकोऽस्ति गिरेस्तले॥

(२४८)

एवं सुबोधितो युक्त्या संदिग्धश्चापरो नरः।
धूमध्वजमदृष्टं हि स्वीकरोति न संशयः॥

सम्प्रति जैनमतेन साध्यलक्षणं कथ्यते-

(२४९)

अप्रतीतं हि साध्यं स्यादनिराकृतमीप्सितम्।
विषयभागेन साध्यत्वं भिन्नं भिन्नमुदाहृतम्॥

(२५०)

पक्षे तु पर्वतादौ केनापि पावकार्थिना।
अज्ञातेन किं बन्धो पावको वर्तते न वा॥

(२५१)

इत्येषा जायते तस्य विजने काननेऽपि च।
यदि केनापि रूपेण पावको निश्चयो भवेत्॥

(२५२)

तदा नोदेति जिज्ञासा तेन प्रोक्तं निराकृतम्।
पश्चाद्धूमेन लिङ्गेन चैकेनैव तु हेतुना॥

(२५३)

व्याप्तिज्ञानं परामर्शं विनैव चानुमीयते।
परामर्शं विना नैव ह्यनुमानं विजायते॥

(२५४)

इति वैशेषिकी शैली जैनैर्नैव मन्यते।
असौ निराकृतो वह्निः प्रेष्ठोऽपि पावकार्थिना॥

(२५५)

जायतेऽनुमितिस्तत्र पर्वतो वह्निमानिति।
एषा जैनमते शैली संक्षेपेक्षेण मयोदिता॥

(२५६)

पाको विनिर्मितो यत्र शालायां राजपूरुषैः।
साध्यसाधनसिक्ता सा तत्रापातैः परैर्जनैः॥

(२५७)

धूमेन मलिनां प्रेक्ष्य लिङ्गलक्षणवेदिना।
आसीद् वह्निमती शाला शुभ्रापि मलिनाऽधुना॥

(२५८)

अतीतकालिको वह्निरनुमानेन समर्थतः।
भाविनं चापि वै साध्यं युक्त्या चाहं समर्थये॥

(२५९)

शालायामपि कस्यश्चिद् भावी चापि महोत्सवः।
तदर्थं रचिता तत्र सामग्री काष्ठचुल्लिका॥

(२६०)

गच्छन् वदति शालेयं भाविनी वह्निशालिनी।
धूमाऽभावेऽपि धूमार्थं भूरिकाष्ठं च चुहल्लिका॥

(२६१)

विषयस्य विभेदेन भिन्नं भिन्नं प्रकीर्तितम्।
एवमन्यत्र बोधव्यमनुमानमनेकधा॥

(२६२)

परेषां तु मतं चापि निराकर्त्तुं प्रचक्रमे।
पक्षहेतुवचोरूपं परार्थमुपचारतः॥

(२६३)

दृष्टान्ताद्यत्र नैवाङ्गं वस्तुतो हेतुरेव हि।
एकेन कार्यसिद्धिः स्यात् किमन्येन प्रयोजनम्॥

(२६४)

हेतुना निश्चितेनैव जनैरनुमितिर्मता।
अनुमानं परार्थं हि मुधा पञ्चककल्पना॥

(२६५)

पूर्वो हेतुश्च व्याप्तिः परामर्शोऽपि स्वीकृतः।
व्याप्तिभेदो द्विधा प्रोक्ता बहिरन्तरभेदतः॥

(२६६)

व्यात्या वै चान्तरेणैव निजाशङ्का निरस्यते।
बाह्याख्यया तु परया, विमुग्धः प्रतिबोध्यते॥

(२६७)

दृष्टान्तदर्शनेनैव स्थिरीस्यान्निपक्षकः।
परो निजाग्रहं व्यक्त्वा तन्मतं मनुते स्फुटम्॥

(२६८)

उपसंहरेण संदिग्धे पक्षे साध्यसमर्थनम्।
यथा महानसं तादृक् तथैव शिखरीस्फुटम्॥

(२६९)

साध्यधर्मिणि सद्धेतुस्तिष्ठत्येव न संशयः।
प्रतिपक्षे कुतो नैव गिरौ धूमो न वा ह्रदे॥

(२७०)

धर्मी शब्देन पक्षो हि कथ्यते न्यायशासने।
नैव देवार्चकः कश्चिच्छ्रावको मुनिवन्दकः॥

(२७१)

शिलान्यासं विना नैव गृहारम्भो विधीयते।
अनुमानं तथा पक्षाद् ऋते नैव प्रवर्तते॥

(२७२)

पक्षस्य विषयेऽनेके वादा विज्ञैः प्ररूपिताः।
संदिग्धसाध्यवान् पक्ष इति पूर्वविदां मतम्॥

(२७३)

प्रतिज्ञावचनं पक्ष इत्यपि कोऽपि चोचिवान्।
अनुमायां यदुद्दिश्यं पक्षमाहु परेऽपि च॥

(२७४)

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्रन दृश्यते।
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमतिर्भवेत्॥

(२७५)

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना कस्य कार्यः परिग्रहः।
विभ्रमे पतितो लोकः सदा भ्राम्यति चक्रवत्॥

(२७६)

संदिग्धसाध्यवान् पक्षे दोषस्तत्रप्रदीयते।
गृहमध्यगतेनापि श्रुत्वा मेघस्य गर्जनाम्॥

(२७७)

गगनं मेघवदस्ति कृता त्वनुमितिर्यदा।
संदेहेन विना तत्र जाता त्वनुमितिर्ध्रुवा॥

(२७८)

दृष्टोऽयं व्यभिचारोऽत्र, नासौ पक्षो निगद्यते।
निर्दोषोऽपरः पक्षस्ततो भूयो गवेष्यताम्॥

(२७९)

प्रतिवचनं पक्षे तु दोषश्चेह विचार्य्यते।
लिङ्गदर्शनमात्रेण त्वनुमा नम् क्वापि जायते॥

(२८०)

पक्षे विनिश्चिते साध्ये न स्यादनुमितिस्तदा।
प्रत्यक्षात् कार्यसिद्धिः स्यात् मुधा कोऽनुमितिं क्रियात्॥

(२८१)

उपनयो निगमनं यथासख्यमथोच्यते।
साध्यधर्मिणि सद्धेतोः साध्यधर्मस्य वा पुनः॥

(२८२)

अनुपलब्धिरूपक्रान्ताऽभावरूपा प्रकीर्तिता।
चतुर्विधोऽप्यभावोऽस्ति संसर्गाऽन्योन्यभेदतः॥

(२८३)

आद्यस्य त्रिविधो भेदः क्रमेण वर्ण्यते मया।
प्रागभावस्तु कपालेऽस्मिन् घटो भावी न विद्यते॥

(२८४)

भूत्वा घटो विनष्टो हि प्रध्वंसाऽभाव ईरितः।
कालत्रयेऽपि गगने न पुष्पं सौरभं पुनः॥

(२८५)

अत्यन्ताभाव एवासौ वस्तु सत्ता न विद्यते।
परन्तु न्यायविदुषा नायमङ्गीकृतः कुतः॥

(२८६)

अत्यन्ताभाव एवासौ यत्रास्ति प्रतियोगिता।
कालत्रयेऽपि मन्तव्यश्चात्यन्ताभाव एव सः॥

(२८७)

तदा घटात्मके द्रव्ये नैवासौ स्यात् कथञ्चन।
कालत्रयात्मिका तत्र नैवास्ति प्रतियोगिता॥

(२८८)

सत्यमुक्तं त्वया तत्र मम भावोऽपि वेदितः।
युक्त्या तं बोधयामि त्वां प्रेक्षस्व सावधानतः॥

(२८९)

इदानीं भूतले चात्र कपाले नास्ति वै घटः।
प्रतियोगि घटे या हि वर्तमानावगाहिनी॥

(२९०)

अनेनैव क्षणेनैव पुरा नासीदयं घटः।
अतीतकालिकीं तत्र घटे सा प्रतियोगिता॥

(२९१)

पश्चादपि परेणैव कालेन भविता घटः।
नैव चानेन कालेन भाविनी प्रतियोगिता॥

(२९२)

एवं घटात्मके द्रव्ये चायाता प्रतियोगिता।
कालत्रयात्मिका तत्र सम्यग् दृष्ट्या विविच्यताम्॥

जैनमतेन उपलब्धिर्विविच्यते-

(२९३)

अविरुद्धा विरुद्धा वा ह्युपलब्धी द्वे निरूपिते।
आद्या हि षड्धा प्रोक्ता सेवेदानीं विविच्यते॥

(२९४)

साध्यसाधनयोर्यत्र विरोधो नैव दृश्यते।
साध्या सा साधना वेति ते द्वे च गणिते मया॥

(२९५)

यत्र धूमोपलब्धिः सदैव न तु खण्डितः।
लभ्यते पावक स्तत्र विद्वद्भिः परिशीलिता॥

(२९६)

व्याप्त्या च व्यापकेनापि व्याप्यव्यापकभावतः।
साऽविरुद्धोपलब्धिस्तु वर्णितः सप्रमाणतः॥

(२९७)

व्याप्यो धूमो व्यापकश्च पावक परिकीर्तितः।
यत्र-यत्र हि धूमोऽस्ति पावकस्तत्र तत्र वै॥

(२९८)

चतुर्विधा मया प्रोक्ता कथ्यते चापरापि सा।
उपनयोपसंहारौ वर्तते यत्र सर्वदा॥

(२९९)

तावुभावपि विज्ञेयौ चाविरुद्धदले पुनः।
साधनाद्याश्रयात् सत्यं वह्निमद्धि महानसम्॥

(३००)

तथैव पर्वतश्चापि वह्निमान् नैव संशयः।
अविरोधोपलब्धिः सकला दर्शिता मया॥

(३०१)

विरुद्धा ह्युपलब्धिः सप्तधा परिकीर्तिता।
स्वभावादि स्वरूपाणां सदैव सा विरोधिनी॥

(३०२)

ज्योतिर्विदां निकाये सा बहुधा हि विलोक्यते।
उदितोऽनुदितः खेटस्तथैकः प्रतिपाद्यते॥

(३०३)

दिङ्मात्रं दर्शयिष्यामि विषयो दैववादिनाम्।
यावन्नोदिश्यते, चार्द्रा, कुतः पुष्योदयः पुनः॥

(३०४)

पुष्यो नैवोद्गात् खेटः, आर्द्राया उदयं विना।
रोहिणी चोद्गतेदानीं कृत्तिका उदिता पुरा॥

(३०५)

अधुनागतो भूपो चमूनैव समागता।
प्रतिष्ठा भाविनी नाद्य ग्रहणामर्चनां विना॥

(३०६)

समागत्य गतो राजा सैनिका निखिला गता।
उपलम्भाऽनुपलम्भानां स्थाने चैतादृशं मतम्॥

(३०७)

विशेष विदुषा चेह खेटाचारो निरीक्ष्यताम्।
मुख्यस्यैव विषयो दिङ्मात्रं दर्शितं मया॥

आप्तनिरूपणं प्रस्तौति-

(३०८)

आप्तानां वचनं ग्राह्यं सर्वैरेव मनीषिभिः।
आप्तं कं विबुधाः प्राहुर्लक्षणं प्राङ् निगद्यताम्॥

(३०९)

यथास्थितं हि यद् वस्तु वेत्ति दिव्येन चक्षुषा।
समाजे तत् तथारूपं यश्चष्टे आप्त एव सः॥

(३१०)

यद् दृष्टं भिन्नरूपेण भिन्नरूपेण वक्ति यः।
नैवाप्तो वञ्चकश्चासौ, मायाभूपस्य चेटकः॥

(३११)

तीर्थेशाः प्रमुखाः सर्वे केवलालोकभानवः।
लोकिकालौकिकानाञ्च भावानां खलु दर्शकाः॥

(३१२)

लोकोत्तराश्च ते सर्वे आप्ताः प्रोक्ताः कवीश्वरैः।
आगमानां च कर्त्तारः श्रुत केवलिनस्तथा॥

(३१३)

भूरिलब्धिधराश्चैते ज्ञानवारिधिमन्दराः।
श्रुतानि यानि लभ्यन्ते तेषामेव कलाविह॥

(३१४)

भस्मीभूतानि भूयांसि बर्वराणां च शासने।
अद्यापि खलु जीवन्ति शिलासिद्धिगता अपि॥

(३१५)

तीर्थेशास्तु महाप्राज्ञा ज्ञानालोकदिवाकराः।
त्रिपद्याश्चोपदेष्टारो विंध्यगङ्गाहिमालयाः॥

(३१६)

तेषामेव प्रसादेन ब्रुवते विबुधा वराः।
अन्वर्थनामकाश्चाप्ता सत्यार्थस्य भासकाः॥

(३१७)

शब्दजन्यं हि यज्ज्ञानं शाब्दिकं परिकीर्तितम्।
सर्वमागमजं ज्ञानं शाब्दिकं गणितं बुधैः॥

(३१८)

संकेतेन विना लोके जायतेऽनर्थ एव हि।
संकेतः प्रथमं ज्ञेयो विदुषा लोक वर्तिना॥

(३१९)

सामर्थ्यमथ शक्तिश्च संकेतः समयस्तथा।
पय्यार्यवाचकाश्चैते, पर्य्याय प्रतिरूपकाः॥

(३२०)

शब्दोऽनेकविधो ज्ञेयः प्रोच्यते च प्रसङ्गतः।
यौगिकश्च तथा रूढो योगरूढस्तृतीयकः॥

(३२१)

रूढोऽपि यौगिकश्चापि चतुर्थः परिकीर्तितः।
पाचकः पाठकः शब्दो यौगिको गण्यते बुधैः॥

(३२२)

पाठयिता पाकर्त्ता, विज्ञः सूदो हि पाचकः।
कुशलो हि मण्डपो रूढो, योगार्थो नेह गृह्यते॥

(३२३)

कुशं लुनाति नैवार्थः मण्डं पिबति वा तथा।
रूढ़ि शक्त्या हि दक्षस्य वस्त्रगेहस्य वाचकाः॥

(३२४)

पङ्कजं च सरोजं च समुदायार्थेन वारिजम्।
अबोधयत् पङ्कजातं, बोधयत्यविरोधतः॥

(३२५)

उद्भिजादि प्रयोगो हि रूढस्यापि वाचकः।
योगार्थो रूढ़िशक्त्या हि, भित्वाजातोऽपिकथ्यते॥

(३२६)

शब्दभेदः कृतो विज्ञैः विशेषार्थस्य दर्शकः।
प्रकरणवशतो भूत्वा स्वार्थं क्वापि जहाति सः॥

(३२७)

स्याद्वादिनो वरा जैना मन्वते सततं हि तम्।
विधिवाक्यनिषेधाभ्यां स्याद्वादो भवति स्फुटम्॥

(३२८)

द्वौ पदार्थौ हि लोकेऽस्मिन् दृश्येते चाविरोधतः।
'अस्ति' 'नास्ति', उभावेव सहजौ भ्रातराविव॥

(३२९)

इमावेव उभौ पक्षौ वाच्यावाच्येषु भूरिषु।
पक्षेष्वपि च बोधव्यौ सप्तभङ्गी प्रजायते॥

(३३०)

वस्तुतस्तु द्विधा भङ्गी सद्सद्भ्यां विभाव्यताम्।
भङ्गाश्चान्ये विशेषेण भिद्यन्ते नापरे च॥

(३३१)

दिगम्बरा गिरन्त्येव शतभङ्गीं खलु धीधनाः।
सहस्रभङ्गीं वाऽप्यन्ये व्याप्रियन्ते च मल्लवत्॥

(३३२)

तासु सर्वासु भङ्गीषु सारौ द्वावेव गोचरौ।
सद्रूपो वाऽप्यसद्रूपो भेदकं हि विशेषणम्॥

(३३३)

वस्तुस्वभावो धर्मो हि स चानन्तविधो मतः।
पदार्थानामनन्तत्वात् स्वभावे चानन्तता गता॥

(३३४)

तथापि कतिभिरेव, नित्यं चोपकारिभिः।
समाश्रित्य भङ्गी प्रोक्ता, मान्या वै सप्तधैव सा॥

(३३५)

गिरन्ति श्वेतवसनाः विद्वांसः तत्त्वदर्शिनः।
तेषामेव मतेनैव विचारो मयका कृतः॥

द्रव्यपर्यायचर्चा (३३६)

द्रव्यपर्यायमाश्रित्य बहवस्तत्त्वदर्शिनः।
प्रज्ञाभरेण चात्मीयान् भावान् वाढं वितेनिरे॥

(३३७)

अहं चापि कियन्मात्रं वक्तुमीहे प्रयत्नतः।
गुणा दोषाश्च सर्वत्र जायन्तेऽपेक्षया स्वया॥

(३३८)

गुणाश्रयं क्रियाधारं द्रव्यमाहुश्च तार्किकाः।
पृथिव्यादिषु द्रव्येषु विजानन्ति सुधीश्वराः॥

(३३९)

गन्धयुक्ता क्षितिश्चेह सा भ्रमन्ती निरन्तरम्।
मन्दगत्या चलन्ती सा नैव सर्वेण ज्ञायते॥

(३४०)

यदा कदा च वेगेन धावमाना स्वभावतः।
लोके भूस्खलनं ख्यातं गृहाणां पतनं स्फुटम्॥

(३४१)

पुष्पादौ सहजो गन्धो विकासो दृश्यते क्रिया।
भर्जिते चणकादौ तु गन्धव्यक्तिः स्फुटा मता॥

(३४२)

गुणपर्यायवद् द्रव्यं वदन्ति स्याद्विपश्चितः।
सुवर्णचरितं सर्वं पर्यायं भूषणं विदुः॥

(३४३)

पीतादयो गुणास्तत्र, सर्वे नेत्रस्य गोचराः।
हिमं चापि जलं विद्धि, कर्कवाष्पादिकं तथा॥

(३४४)

रूपं चाऽभास्वरं शुक्लं सर्वे पश्यन्ति प्राणिनः।
मतद्वयेन तद् द्रव्यं निर्विवादं निरूपितम्॥

(३४५)

पर्यायस्त्वसौ ज्ञेयः कर्तृव्यापारविकृतः।
सुवर्णस्य विकारो हि कुण्डलं कटकादिकम्॥

(३४६)

द्रव्येण पर्यायेण मिलितेन निरन्तरम्।
सर्वं विश्वमिदं जातं द्रव्यपर्याययोगतः॥

(३४७)

नित्य स्थाने स्थितं द्रव्यं पर्यायाः परिवर्तिनः।
उभाभ्यां च पदार्थाभ्यां व्याप्तं विश्वमनारतम्॥

(३४८)

नैयायिकमते नित्या भूयांसः परमाणवः।
न तु क्षित्यादयश्चैते पर्य्याया एव तन्मते॥

(३४९)

अपेक्षावादिनस्ते हि मन्यन्ते नित्यमेव वै।
सर्वपर्य्यायगो यो हि नित्योऽसौ जिनशासने॥

(३५०)

द्रव्य पर्य्याययोरेव भेदश्चात्र प्रकाशितः।
आद्यो हि सकलादेशे व्यापकत्वान्न भिद्यते॥

(३५१)

एकभागं समालम्ब्य विकलः परिकीर्तितः।
समष्टिव्यष्टिभेदेन मीमांसकमतं त्विदम्॥

(३५२)

द्वन्द्वोऽपि द्विविधः प्रोक्तः समाहारेतराविव।
इतरेतरद्वन्द्वोऽपि, भेदपक्षावलम्बकः॥

(३५३)

धमार्थकाममोक्षाश्च कथितश्चेतरेतरः।
रथाश्वं पाणिपादं च समाहार उदीरितः॥

(३५४)

द्रव्यात्मना वस्तुमात्रं चैकमेव न भेदभाक्।
पर्य्यायस्य दृशा सर्वे भिद्यन्ते नेह संशयः॥

(३५५)

यथा संघपदेनैव चतुर्णां ग्रहणं भवेत्।
अयं हि सकलादेशः समाहारोऽवगम्यताम्॥

(३५६)

अयं साधुरियं साध्वीं, श्रावकः श्राविका तथा।
एष तु विकलादेशः पर्य्यायस्यावलम्बकः॥

(३५७)

एवं विधो विचारो हि सकलो विकलो गतः।
संग्रहादिप्रभेदेन न्यायोऽनेक विधो मतः॥

(३५८)

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं पूर्वं चैतत् प्ररूपितम्।
ऊर्ध्वतिर्यक्त्वभेदेन गवादौ कुण्डलेऽपि तत्॥

(३५९)

विशेषः द्विविधः प्रोक्तो गुणपर्य्याय भेदतः।
वस्तुविभेदको धर्मो विशेषः परिकीर्तितः॥

(३६०)

द्रव्येण सह योजातः स गुणः कथितो बुधैः।
गन्धं विहाय न क्वापि क्षितिरुत्पद्यते पुनः॥

(३६१)

स्पर्शेन शीतले नापो हिमं कर्कादि विदवः।
द्रव्यमाश्रित्य पश्चाद्धि पर्याय उत्पद्यते॥

(३६२)

प्रत्यक्षादि प्रमाणानां चतुर्णां द्विविधं फलम्।
अनन्तरं फलं त्वाद्यं पारम्परिकमन्यकम्॥

(३६३)

आलोकसहितं चक्षुः सम्प्रेक्ष्य कलशं गृहे।
गृहं सकलशं चास्ति शङ्का तु विनिवर्तते॥

(३६४)

युक्त्या परप्रबोधाय परान् बोधयते हि तत्।
पारम्परिकमेवैतत् परशङ्का निवर्तनात्॥

(३६५)

अज्ञानस्य निवृत्तिर्वै प्रमाणानां पुरा फलम्।
आदौ स्वस्य ततोऽन्येषामिति सर्वविदां मतम्॥

(३६६)

संकोचेन हठनैव कार्यसिद्धिर्नजायते।
स्याद्वादो विशदो मार्गः सर्वक्लेशविभञ्जकः॥

(३६७)

अनादिकालतः सर्वे विवदन्ते नित्यवादिनः।
क्षणिकाः सौगताश्चापि नव्यो मार्गोऽविरोधकः॥

(३६८)

विसंवादि च वचनं प्रमाणाभासमीरितम्।
गगने बहवः सूर्या दृश्यन्ते च हिमांशवः॥

(३६९)

आप्तवाक्यात् परं यत् यत् प्रमाणाभासमेव तत्।
पक्षाऽऽभासास्त्रयस्तत्र मध्यमोऽनेकभेदतः॥

(३७०)

साध्याधिकरणः पक्षः, पक्षता यत्र विद्यते।
पक्षाभावस्त्वसौ ज्ञेयः, पक्षधर्मो न यत्र वै॥

(३७१)

सुवर्णपर्वतश्चायं वह्निमान् धूमदर्शनात्।
न काञ्चनमयः कोऽपि पर्वतो भुवि दृश्यते॥

(३७२)

विशेषणविशिष्टा हि पक्षता नेह विद्यते।
कोशे चागमे वापि वर्णितः कनकाचलः॥

(३७३)

नाम्नासौ कर्मणा नैव क्षेत्र चञ्चाख्यमानवत्।
उपयोगो यस्य नैवास्ति ह्याप्तेन कथितोऽपि सन्॥

(३७४)

आप्तवाक्यं प्रमाणं तन्नैव लोकोपकारकम्।
दुग्धदाधेनवः सन्ति परा नाम्ना न कर्मणा॥

(३७५)

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन पक्षाभासाः निराकृताः।
साध्या यत्र न विद्यन्ते ते पक्षाः किं कुतोऽपि स्युः॥

(३७६)

व्यभिचारयुतो हेतुर्हेत्वाभासा उदीरिताः।
ते चानेकविधा प्रोक्ताः कियन्तोऽत्र निरूपिताः॥

(३७७)

विरुद्धो गदितो हेतुः साध्याऽभावस्य साधकः।
शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्थं यत्र प्रयुज्यते॥

(३७८)

हेतुना कृतकत्वेनाऽनित्यो वै साध्यते बुधैः।
घटोऽनित्यः सदा तत्र कृतकत्वं हि दृश्यते॥

(३७९)

असौ सत् प्रतिपक्षः स्यात् परो हेतुर्भवेत् पुनः।
शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् यथा शब्दत्व जलवत्॥

(३८०)

शब्दोऽनित्य सदा बोध्यः कण्ठताल्वादिसंभवात्।
स्वरूपासिद्धिदोषेण बहुदोषा प्रकीर्तिताः॥

(३८१)

हेत्वाभासास्त्रिधा ज्ञेयाः कथिता मुनिपुङ्गवैः।
असिद्धश्च विरुद्धश्च परोऽनेकान्तिकस्तथा॥

(३८२)

अप्रतीतस्वरूपो हि त्वसिद्धस्त्रिविधो मतः।
आश्रयाऽसिद्धिः प्रथमा, स्वरूपात्वपरा मता॥

(३८३)

व्यापकत्वासिद्धिचरमः क्रमेण कथ्यते मया।
शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात् स्वरूपासिद्धिरुच्यते॥

(३८४)

पक्षे यो नैव विद्येत, स्वरूपासिद्धिरेव सः।
शब्दस्य ग्रहणं नित्यं श्रोत्राभ्यामेव जायते॥

(३८५)

व्याप्यत्वेन त्वभीष्टोऽपि, यः पक्षे नैव विद्यते।
ह्रदो द्रव्यं धूमवत्वात् ह्रदे धूमो न विद्यते॥

(३८६)

ह्रदो जलाश्रयाधारो न तु धूमस्य कदाचन।
अनैकान्तस्त्वसौ ज्ञेयो यः साध्याऽभावसाधकः॥

(३८७)

घटोऽनित्यस्तु ज्ञातव्यः कपालद्वयसम्भवात्।
घटोऽनित्यः सदा ज्ञेयः कुम्भकारप्रयत्नतः॥

(३८८)

अनुमाता कुशलो नायं साध्याऽभावस्य साधकः।
उपन्न्यस्यति यो हेतुं त्वनुमति कुरुते सुधीः॥

(३८९)

साध्यसिद्धिर्न येन स्याद् दोष एवोपतिष्ठते।
अकिञ्चित्करश्चासौ हेत्वाभासाः प्रकीर्तिताः॥

(३९०)

साध्यरहितः पक्षः बाधदोषो निगद्यते।
महाह्रदो वह्निमान् हि, धूमस्तोमविलोकनात्॥

(३९१)

केऽपि व्याप्तिं परामर्शं बध्नन्ति दुष्टहेतवः।
बाधदोषस्तु साक्षाद्धि त्वनुमानस्य बाधकः॥

(३९२)

कार्येण चानुमीयन्ते कारणानि सतां मते।
ऋते कार्यात् कुतः शङ्का त्वनुमानस्य जायताम्॥

(३९३)

साध्यसाधनयोर्यत्र साहचर्यं न निश्चितम्।
तं दृष्टान्तं कथं प्रज्ञः कर्त्तुमीहेत यत्नतः॥

(३९४)

ह्रदो हि वह्निमानस्ति सततं धूमदर्शनात्।
हिमादिमध्यगो दीर्घो यथा मानसरोवरः॥

(३९५)

बाधसत्प्रतिपक्षे च द्वौ दोषौ पृथङ्मतौ।
हेतुना चापरेणैव साध्याऽभावो हि साध्यते॥

(३९६)

न तु वा केवलेनैव विदन्तु स्याद्विपश्चितः।
पक्षे हेतोस्तु सत्तैव नैव बाधे तु वर्तते॥

(३९७)

अनुमतेर्बाधको बाधः कविभिः परिकीर्तितः।
ह्रदो हि वह्निमानस्ति, सदा धूमविलोकनात्॥

(३९८)

प्रमाणं च नयश्चापि भिन्नौ भिन्नौ प्रकीर्तितौ।
प्रत्यक्षादि प्रमाणानि विभिन्न विषयाणि वै॥

(३९९)

सर्वांश हि विजानाति, प्रमाणं नैव चापरः।
नयोऽसौ कथितः प्राज्ञैर्नानावादावलम्बनात्॥

(४००)

प्रमाणे तु हठो नास्ति नैव वा परवञ्चना।
प्रमाणं सततं मान्यं परमार्थगवेषणात्॥

(४०१)

संसारोऽयं विचित्रोऽस्ति निर्मितो जडचेतनैः।
तालिका नैक हस्तेन करेण क्वापि जायते॥

(४०२)

नराधीशस्य राज्यं हि चतसृभिश्च नीतिभिः।
सामादिभिः प्रचलति, न तु केवलया तया॥

(४०३)

तेन स्याद्वादिनो विज्ञा स्याद्वादं मन्वतेतराम्।
निष्पक्षैस्तीर्थनाथैस्ते राजमार्गो विनिर्मितः॥

(४०४)

राजाध्वना व्रजन् लोको न क्वापिस्खलति स्फुटम्।
स्याद्वादो प्रमाणं वै, वस्तु सर्वांशग्राहकः॥

(४०५)

द्रव्यार्थिकनयः श्रेष्ठः, परः पर्यार्थिको मतः।
नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहार इति त्रिधा॥

(४०६)

निर्गच्छन्ति जना येन नैगमोऽसौ निगद्यते।
निगमः सुगमो मार्गः सर्वकार्यविधायकः॥

(४०७)

पदार्थेऽनेकधर्मा हि विद्यन्ते चाविरोधतः।
कमप्यंशमुपादाय वर्ततामविरोधतः॥

(४०८)

संग्रहोऽपि वरो न्यायः सर्वेषां संग्रहो यतः।
यथो कोऽपि वणिक् मन्ये स्वभावात् दूरदर्शकः॥

(४०९)

सर्वसंग्रहकर्त्तव्यः कः काले फलदायकः।
इति भावनया सर्वं चिनोति न विमुञ्चति॥

(४१०)

तथैव संग्रहो न्यायः (नयः) विश्वमात्रोपकारकः।
कालान्तरेऽपि लोकेभ्यः फलदः परिकीर्तितः॥

(४११)

व्यवहरन्ति जना येन मिथ आदानप्रदानतः।
व्यवहारो नयश्चासौ ज्ञानिनैव प्रवर्तितः॥

(४१२)

त्रिभिरेव नैतत् सर्वं, कार्यं चलति देहिनाम्।
संकोचो नेह विद्येत, प्रतिबन्धो न वा पुनः॥

(४१३)

ऋजुसूत्रादयोऽप्यन्ये संकोचेन प्रवर्तकाः।
शार्कटिकः स्तोकमादाय यथा भ्राम्यति नृध्वनि॥

(४१४)

ऋजुसूत्राल्पविषयः शब्दाख्यविषयो नयः।
शाब्दिकाः पण्डिताः सर्वे शब्दमात्रगवेषकाः॥

(४१५)

घटे हि घटते यस्मिन् काले वा चेष्टते पुनः।
यथार्थो हि घटश्चास्ति परश्चञ्चासहोदरः॥

(४१६)

पाचको हि यदा पाकं करोति रन्धनादिकम्।
पाचकः पाठकः सैव पाचयन् पाठयन् सद्य॥

(४१७)

यौगिकः खलु शब्दो हि योगार्थस्य गवेषकः।
प्रवर्तते हि तत्रैव परत्र न यथार्थकः॥

(४१८)

ये स्वल्प द्रविणाः सन्ति स्वल्पेनैव धनेन ते।
व्यवहारं वितन्वन्ति स्वल्पं स्वल्पार्थदायकम्॥

(४१९)

व्यवहारेण मार्गेण नृनाथाऽनुमतेन तु।
व्रजन् मन्दोऽपि पथिको नो वा स्खलति कुत्रचित्॥

(४२०)

शब्दरूढनयश्चापि रुढ्यर्थ विषयोऽनुगः।
रूढिशब्दा हि लोकेऽस्मिन्नल्पीयांसो भवन्ति वै॥

(४२१)

स शक्नोति दया शक्रः शत्रून् विजयते सदा।
विस्फोरयति स्वां शक्तिं शक्रोऽसौ परमार्थिकः॥

(४२२)

अन्यकाले नचान्वर्थः शब्दरूपो गिरत्यमुम्।
इत्थंभूतनयश्चापि तस्मान्न्यूनतमो मतः॥

(४२३)

एते सप्त नयाः प्रोक्ताः विज्ञैश्च जिनशासने।
त्रयश्चार्थनयास्तत्र वस्तुमात्रावलम्बनात्॥

(४२४)

चत्वारो ऋजुसूत्राद्या ज्ञेयाः शब्दनयाः पुनः।
शब्दमात्रानुगाः सर्वे वर्तमानस्य बोधकाः॥

(४२५)

शास्त्रमात्रानुगाः सर्वे वर्तमानस्य बोधकाः।
शास्त्रोदितनयाच्चान्ये नयाभासाः समीरिताः॥

(४२६)

अजाकृपाणको न्यायः काकतालीयकस्तथा।
लौकिको हि नयश्चायं लोकमालोककारकः॥

(४२७)

रज्वाबद्धः कृपाणो हि नागदन्तेऽलम्बितः।
तृणानि कतिचित् तत्र लम्बितानि कदाचन॥

(४२८)

भ्रमन्ती च क्षुधाक्रान्ता छागी तत्र समागता।
मुग्धा तृणानि चाकर्षत् खण्डस्तीक्ष्णस्तदाऽपतत्॥

(४२९)

छिन्नग्रीवा तदा जाता न्यायः प्रचलितस्तदा।
एवं काकः तृषाखिन्नो धर्मतप्तो हि कानने॥

(४३०)

तालस्याधः स्थितो यावत् झञ्झावातस्तदाचलत्।
श्लस्थाद् वृन्तात् फलं पक्वं पपात तस्य मूर्धनि॥

(४३१)

काको मृतस्ततश्चायं न्यायो लोके व्यजृम्भत।
चलन्ति येन कार्याणि नयोऽसौ कथितो बुधैः॥

(४३२)

एते नया नयाभासाः सदा हासविधायिनः।
चत्वारो ननु निक्षेपाः कथिता नयवादिभिः॥

(४३३)

नामस्थानद्रव्यभावैरन्यत्रापि विलोक्यते।
पाषाणनिर्मिते चित्रे प्रतिबिम्बेऽपि प्रयत्नतः॥

(४३४)

वीराऽभावे महावीरः स्थाप्यते धर्मवत्सलैः।
गृहे वा नगरे वापि जिनागरे सुमन्दिरे॥

(४३५)

तीर्थभावनया चायं गिरीन्द्रः सिद्धिदायकः।
व्यतिक्रान्ते द्रव्यभावे स्थापना खलु दृश्यते॥

(४३६)

अयं हि स्थापनाचार्यो नम्यते पूज्यते तया।
भावेन रहिते चापि वशमात्रधरे मुनौ॥

(४३७)

अयं साक्षाद् जिनाधीशः शासनस्य प्रभावकः।
प्रतिः प्रतिनिधौ वापि प्रतिदाने च पञ्चमी॥

(४३८)

मुक्तामुक्तविभागाभ्यामात्मापि द्विविधो मतः।
सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिः सर्वैरेव च सम्माता॥

(४३९)

सात्विका लघवो जीवाः तूलवत् परिकीर्तिताः।
ध्रुवं तु चोर्ध्वं गच्छन्ति, यथा पावकज्योतयः॥

(४४०)

प्रच्यवन हेतुराहिव्यात् मुक्ताः सिद्धाः प्रभावकाः।
समलंकुर्वन्ति लोकाग्रं स्वरूपान्न च्यवन्ति ते॥

(४४१)

पूर्वदेहत्रिभागेन मिताकाशावगाहना।
तीर्थातीर्थप्रभेदेन द्विविधः परिकीर्तितः॥

(४४२)

सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिः सर्वैरेव स्वीकृता।
प्रसङ्गात् कर्मवादोऽयं त्वधुना समुपस्थितः॥

(४४३)

कर्ममूलभिदं विश्वं निर्विवादमिति स्थितिः।
तानि कर्माण्यनेकानि परेषामिति सम्मतिः॥

(४४४)

अष्टौ चैव ह कर्माणि गणितानि जिनोत्तमैः।
जीवेन सह प्रोतानि सूत्रे प्रोतानि सूत्रे मणिगणा इव॥

(४४५)

अनादीन्यपि कर्माणि सहजान्यात्मना समम्।
क्षीयन्ते ज्ञानतपसा तापैर्लोहमलं यथा॥

(४४६)

तानि चेह विभक्तानि ज्ञेयानि द्विविधानि च।
घातीनि चाप्यघातीनि यथार्थनामकानिच॥

(४४७)

चत्वारि पूर्वघातीनि त्वघातीनि पराणि च।
क्रमेणैषां च नामानि गणयामि निबोधत॥

(४४८)

ज्ञानावरणकं त्वाद्यं दर्शनावरणं परम्।
वेदनीयं तृतीयं स्याच्चतुर्थं मोहनीयकम्॥

(४४९)

आयुष्कं पञ्चमं ज्ञेयं षष्ठं नामकर्मभाक्।
सप्तमं गोत्रकर्मेति त्वष्टमं चान्तरायकम्॥

(४५०)

यैराधानो जीवोऽयं नानायोनिषु भ्राम्यति।
द्योतमानं यथा भानुमावृणोति घनावली॥

(४५१)

तेजो मन्दायते तस्य विश्वेषामपि द्योतकम्।
तथानन्तगुणाधारो जीवात्मा विश्वभास्करः॥

(४५२)

ज्ञानावर्णाभिधानेन, कर्मणातीव छादितः।
न विजानाति स्वं रूपं विश्वमात्रावभासकम्॥

(४५३)

जन्मान्ध इव स्वैरं योनौ भ्राम्यति गौरिव।
यथा यन्त्र तिलान् तेली पीलयत्येव सर्वदा॥

(४५४)

अर्गलं वृषभं प्राप्य छिक्कया संवृत्य लोचने।
नियुज्य तैल यन्त्रे तं कामं वाहयते वृषम्॥

(४५५)

स धावन् वाहमानोऽसौ पटाच्छादितलोचनः।
बहुभ्रान्त्वापि नो वेत्ति जाते दूरे पटावृते॥

(४५६)

एतावतापि कालेन भ्रान्ता चैतावती हि भूः।
मया भ्रान्ता विजानाति ज्ञानहीनो तदा पशुः॥

(४५७)

तथा जीवोऽपि तेनैव ज्ञानावरणकर्मणा।
भ्रान्तानि भूरि जन्मानि संवृतो न विबोधते॥

(४५८)

स्वच्छोऽतिविशदादर्शो विततो धूलिसंचये।
स्थापितोऽपि विलिप्तोऽसौ स्नेहेनापिलवेन च॥

(४५९)

तन्मुखे संथितो जीवो धौतवस्त्रावृतोऽपि सन्।
मलीमसं निजं बिम्बं दर्पणे च निरीक्ष्यते॥

(४६०)

दर्शनावरणं कर्म स्वं रूपं दर्शयेन्न हि।
तथा मलिनयत्याशु सुरया जाह्नवीजलम्॥

(४६१)

स्वं रूपं कुलाचारं शिष्टाचारं क्रमागतम्।
जहाति सहसा सर्वं कुसंङ्गवशगोऽभवत्॥

(४६२)

पतितो मर्कटो बद्धः पाशेन कपिक्रीडकैः।
वादयन् डमरुं मन्दं तं नर्तयति सर्वदा॥

(४६३)

तथा जीवः मूढो मोहनीयेन कर्मणा।
कं नाचरते चात्मा दुराचारं घृष्णास्पदम्॥

(४६४)

आत्मघातकैरेभि चतुर्भिश्चापि कर्मभिः।
सदा विमोहितो बद्धो जीवः पञ्जरकीरवत्॥

(४६५)

नाम-गोत्रं तथायुष्यं वेद्यं वेदनीयकम्।
न तुदन्ति सदात्मानं स्थास्यन्ति जीवनावधिः॥

(४६६)

आयुषोऽन्ते क्षयं यान्ति तृणाभावेन चाग्निवत्।
कार्मणाः पौद्गलाः सन्ति पार्थिवपुद्गलादिवत्॥

(४६७)

जीवाः प्रदेशिनः सन्ति सर्वदा जैनशासने।
तेषु तेषु प्रदेशेषु लग्नाः कार्मणपुद्गलाः॥

(४६८)

सुवर्णादिषु दुर्वर्णा यथाऽनेके च धातवः।
लग्ना ध्माताः पृथग् यान्ति, प्रचण्डेनानलेन च॥

(४६९)

तथा जीव प्रदेशेषु चाष्टौ कर्माणि सन्ति वै।
तपसा वा क्षयं यान्ति फलं दत्वाऽथ भोगतः॥

(४७०)

चत्वारि घातकादानि जीर्णादि तपसादिना।
अघातीनि च चत्वारि सन्त्येव जीवनावधिः॥

(४७१)

सातनाऽसानावेद्यं जायते चात्मवेदिनः।
क्षमया तत् सहन्ते वै तीर्थेशा विश्ववन्दिताः॥

(४७२)

सर्वेषां तीर्थनाथानां नैतद् वै जायते पुनः।
तथापि चोपतिष्ठेत कस्मैचिदेव ज्ञानिने॥

(४७३)

साताऽसाताप्रभेदेन सामान्येन द्विधा मता।
आहारस्य क्वचिल्लाभो नैवलाभः प्रजायते॥

(४७४)

उदितं चानुदितं कर्म, औदिकं पारिणामिकम्।
भोग्यं संचितमित्यादि तेषां भेदोऽप्यनेकधा॥

(४७५)

फलं यच्छद्धि यत् कर्म प्राहुरोदयिकं हि तत्।
उदितो भास्करो व्योम्नि तापयत्येव भूतलम्॥

(४७६)

साताऽसाते समुदिते सुखं दुःखं प्रदाय च।
यास्यतो नान्यथा ते वै वार्षुको जलदो यथा॥

(४७७)

पारिणामिकं तु तत् कर्म फलं दत्वातिजीर्णितम्।
पक्कं फलं च्युतं वृन्तात् वृन्तं श्लिष्यति किं पुनः॥

(४७८)

संचितं समये प्राप्ते भोग्यं भवति कर्हिचित्।
वणिजा संचितं चान्नं विक्रीणीते महार्घके॥

(४७९)

गहनो बन्धविषयः स चानेकविधो मतः।
बन्धाः प्रादेशिका जैनैरनन्ताः परिकीर्तिताः॥

(४८०)

कायेन मनसा वाचा केवलैरिन्द्रियैः पुनः।
त्रिविधः कथितो बन्धः सर्वतन्त्रगवेषकैः॥

(४८१)

तत्रैव सर्वबन्धानां समावेशो ध्रुवं भवेत्।
क्रोधादयः सहायाः स्युः सर्वबन्धस्य कारणम्॥

(४८२)

स्वल्पा बन्धास्तथाऽनल्पा भवत्येव च सर्वदा।
अतो वाग्बन्धनं न स्यात् समीक्ष्य शास्त्रलोचने॥

(४८३)

सौम्या वाणी प्रयोक्तव्या सर्वेभ्यः सौख्यदायिनी।
गदेन शस्त्रक्षतं नष्टं, वाग्विद्धं न कदाचन॥

(४८४)

शब्दादिपरिभोगाय रचितानीन्द्रियाणि वै।
विरागो भुञ्जमानोऽपि नात्मानं परिवेष्टते॥

(४८५)

योगिनः किं न खादन्ति नेक्षन्ते ब्रुवते न किम्।
निर्विकारा हि कुर्वाणा न बध्नन्ति शिवं निजम्॥

(४८६)

संवदध्वं जनाः शश्वत् संवदध्वं मिथः सदा।
कुर्वन्तः सर्वदा चैव, न क्वापि जायते क्षतिः॥

(४८७)

विशुद्धश्चेतनो दिव्यो ज्ञानराशिर्निरञ्जनः।
तं प्रेक्षध्वं न बन्धोऽस्ति जीवन् मुक्तो भ्रमिष्यसि॥

(४८८)

चतुर्विधश्च भावो हि कर्मणां कथितो जिनैः।
औदिकश्चौपशमिकः, क्षायोपशमिकस्तथा॥

(४८९)

चरमः क्षायिको भावोऽनन्तानन्तफलप्रदः।
भावोऽवस्था विशेषो हि न चैवान्यासकस्त्विह॥

(४९०)

दर्शयामि क्रमेणैव दर्शिताः पूर्व सूरिभिः

यथा हि वार्षिकं तोयं निर्मलं पतितं दिवः।
सहसा मलिनायते, कोऽपि पातुं न वाञ्छति॥

(४९१)

वर्षाकाले शनैर्जाति, कियान् शाम्यते वै रजः।
तच्चोपशमिक वारि पातुं योग्यं विलोक्यते॥

(४९२)

आयाते तु शरत्काले सर्वदोषविशोधके।
धवलं दृश्यते तोयं तत्र स्नान्ति पिबन्ति तत्॥

(४९३)

तथापि विद्यते तत्र मलांशश्चाति सूक्ष्मकः।
कतकचूर्णक्षेपेण जातं मोक्तिकसन्निभम्॥

(४९४)

इदं हि क्षयिकं वारि सर्वरोगनिवारकम्।
कतकशोधितं तेन पिबन्ति यमिनो जनाः॥

(४९५)

तथा निरञ्जनः शुद्धः सिद्धतुल्यः शिवोपमः।
आत्मा कर्ममलैः सद्यश्चाष्टाभिर्मलिनायते॥

(४९६)

किं किं न कुरुते कर्म निन्द्यं प्राणिवधादिकम्।
हिंसायां रमते शश्वद् विष्ठायां शूकरो यथा॥

(४९७)

महता पुण्यपण्येन प्रकृतेन सुकर्मणा।
तेन चेज्जायते योगः, केनापि मुनिना सह॥

(४९८)

करुणासागरः साधुः प्राणिनामुपकारकः।
स दर्शयाति सन्मार्गं जिनाधीशस्य चक्रिणः॥

(४९९)

त्यज हिंसामियां वत्स, श्रयमार्गं शिवङ्करम्।
वर्त्मना चाऽमुना गच्छन् सर्वं भद्रं भविष्यति॥

(५००)

आयास्यति तथा प्रज्ञा कार्यं तादृक् करिष्यसि।
आयास्यति स्वयं लक्ष्मीः सर्वशान्तिविधायिनी॥

(५०१)

एवं स बोधितो जीवस्त्यजन् हिसां श्रयन् शिवम्।
स्वल्पेन नैव तु कालेन सज्जनः स प्रजायते॥

(५०२)

भावा औदयिकाद्याश्च सदृष्टान्तं मयोदिताः।
कर्माणि यान्यभुक्ता भवन्ति जन्महेतवः॥

(५०३)

अशुभैः कर्मभिर्जीवा व्रजन्ति नरकार्वानम्।
नरकावनयः सप्त कथिताः श्रीजिनेश्वरैः॥

(५०४)

दिव्यविज्ञानिनश्चासन् लोकालोकदिदृक्षवः।
नरकप्रभादयो नाम्ना, कर्मणा दुःखराशयः॥

(५०५)

मुक्ता वा येऽप्यमुक्ता जीवास्तिर्यक्शरीरिणः।
पञ्चधा ते च विज्ञेया, एकद्वीन्द्रियवाणगाः॥

(५०६)

पृथिवी तेजः पयो वायुवृक्षाद्या वेणवस्तथा।
एकेन्द्रिया इमे जीवास्त्वङ्मात्रेण स्पृशन्ति च॥

(५०७)

ते द्विधा पुनराख्या ताः सूक्ष्मावादरभेदतः।
अग्राह्या इन्द्रियैः सूक्ष्माः, ग्राह्या ये वादरा मताः॥

(५०८)

पञ्चानामणवः सूक्ष्माः महतापि प्रयत्नतः।
रूपादिगुणवन्तोऽपि नो गृह्यन्ते सकर्णकैः॥

(५०९)

अणवो मध्यसूक्ष्मा ये गवाक्षान्तरचारिणः।
गृह्यन्ते चक्षुषा ते तु स्थूलाऽभावान्न भोगिनः॥

(५१०)

पृथिव्याद्यास्तु ये जीवा वादरा स्पष्टगामिनः।
स्पृश्यन्ते चापि पीयन्ते स्पृष्टास्तापहाराश्च ते॥

(५११)

गर्भजाऽगर्भजा जीवाः सन्त्यत्र द्विविधा क्षितौ।
मनुजाः पशवश्चैते गर्भादेव समुद्भवाः॥

(५१२)

पोतजा अण्डजा ये च भूयांसश्च सरीसृपाः।
एते न गर्भजा जीवाः पोतजा परिकीर्तिताः॥

(५१३)

उद्भिज्य सम्भवा जीवा लतावेणप्ररोहकाः।
छत्राकाराश्च भूयांसो वर्षाकाले समुद्भवाः॥

(५१४)

ते तु नो गर्भजा नापि पोतजा नापि वै पुनः।
उद्भिज्य जगतीं जाता उद्भिजास्तेन चेरिताः॥

(५१५)

आकाशस्य लता पीता वृक्षस्योपरि प्रेक्ष्यते।
सा नोद्भिजा न वा पोता प्रसरन्ती च सर्वतः॥

(५१६)

सा स्वयं प्रभवावल्ली शोथरोगहरा मता।
इत्थं च बहवो जीवा जीवन्ति प्रभवन्ति च॥

(५१७)

अनेक गतिगादेवास्तथा नारकसम्भवाः।
गर्भजादिविभिन्नास्ते चौपपातिनः पुनः॥

(५१८)

न वहन्ति पुनर्गर्भं देव्यः स्वर्गनिवासिनाम्।
यौनिकं वापि नो भोगं पुत्रवत्यो भवन्ति वै॥

(५१९)

अनेकासां च देवीनां पुत्राः सन्ति त्वनेकशः।
उपपातप्रभवास्ते हि कथिता जैनपुङ्गवैः॥

(५२०)

यथा घूणाक्षरन्यायात् अक्षराणि भवन्ति ते।
गोधूमादौ स्वतो जीवा जायन्ते हि स्वभावतः॥

(५२१)

एवं देवादिलोकेषु जीवा ये पुण्यशालिनः।
सत्त्वस्था ऊर्ध्वगतयः पुष्पाणां शयनादिषु॥

(५२२)

निपतन्ति स्वभावेन तज्जन्म चौपपातिकम्।
आश्चर्यं नैव कर्त्तव्यं विचित्रा कर्मणां गतिः॥

(५२३)

देवाश्चतुर्निकायाः स्युर्भवनादिनिवासिनः।
राजान इव भूयांसो देवाश्च भवने वरे॥

(५२४)

ऋद्यादिभिः परिवृताः वसन्ति देवकैर्युताः।
वैमानिकाः सुराश्चान्ये विमानेषु निवासिनः॥

(५२५)

सूर्याश्चन्द्रमसस्तारा ज्योतिष्काः परिकीर्तिताः।
द्योतयन्तो जगत्सर्वं द्योतमाना भ्रमन्ति ते॥

(५२६)

चमत्कारकराः केऽपि भयदाश्च शिवंकराः।
निवसन्ति यथाकामं चैत्ये चोपवने वरे॥

(५२७)

पर्याप्तीतरभेदेन ते देवा द्विविधा मता।
का पर्य्याप्तीति जिज्ञासा जायते हि विवेकिनाम्॥

(५२८)

पर्याप्तिरात्मनः शक्तिः कथिता ज्ञानसिन्धुभिः।
षड्भेदेन सा भिन्ना, नाम्ना कार्यविधायिनी॥

(५२९)

सर्वे चामी समुद्घाताः सलेश्याश्च सयोगिनः।
तीर्थाधीशस्य कल्याणं जायते हितकारकम्॥

(५३०)

समुद्घातेन सर्वे ते व्रजन्ति सन्निधिं प्रभोः।
यथा तीव्रादिगतयो वाहनानां भवन्ति वै॥

(५३१)

गन्तव्यं निजस्थानं प्रयान्ति निश्चितावधौ।
तिर्यक् समो यथा मागौ भुवने भवतो ध्रुवम्॥

(५३२)

मनोयोगो वचोयोगः कार्ययोगस्तथैव च।
शुभं वाऽप्यशुभं कार्यं त्रिभिर्योगैः प्रजायते॥

(५३३)

त्रयो योगा भवन्त्येव सर्वेषां जीवधारिणाम्।
प्रकृत्या सुभगाः सन्तो विश्वेषामुपकारिणः॥

(५३४)

प्रयोजनं विना केऽपि दृश्यन्ते जीवघातिनः।
गच्छन्तो मार्गगान् जीवान् निघ्नन्ति निरागसान्॥

(५३५)

मैनिका जलगान् जीवान् जलमीनोपजीविनः।
नैव हानिकरान् कस्य ते तान् घ्नन्ति पिशाचवत्॥

(५३६)

धानुष्कास्ते मृगान् दीनान् तृणमात्रोपजीविनः।
निर्गृहान् वनगान् त्रस्तान् विध्यन्ति धनुषा नु किम्॥

(५३७)

निर्घृणानां पापानां सतां विश्वोपकारिणाम्।
स्वभावो जन्मना भिन्नः कट्वी तुम्बी सुधामृतम्॥

(५३८)

अलं भूरि प्रसङ्गेन विदांकुर्वन्ति सूरयः।
महतापि प्रयत्नेन स्वभावो दुरतिक्रमः॥

(५३९)

सत्त्वानुरूपास्ताः सर्वाः संभवन्ति शरीरिणाम्।
सात्त्विका राजसाः केचन बहवस्तामसाः हि ते॥

(५४०)

आत्मनः परिणामश्च नैकधाः सन्ति विश्रुताः।
सत्त्वानुगाश्च षड्लेश्याः गणिताः तीर्थनायकैः॥

(५४१)

कृष्णादयश्चतस्रस्ताः न वरा दुःखदा मताः।
पद्मा शुक्ला उभे श्रेष्ठे जीवानां हितकारिके॥

(५४२)

कथं पुनश्लभ्यन्ते जीवे शुक्लादिवर्जिते।
ताः कार्येणाऽनुमीयन्ते धूमेन पावको यथा॥

(५४३)

कृष्णलेश्याभवो जीवः गच्छन् चापरलेश्यकैः।
मार्गे रसालमालोक्य फलैः पक्वैः नतं धराम्॥

(५४४)

फलार्थिनो जनाः सर्वे सद्यः फलजिघृक्षवः।
मिथस्ते वार्तयामासुः केनोपायेन गृह्यताम्॥

(५४५)

कृष्णलेश्यी तथा प्राह विमर्शः किं विधीयते।
वयं कुठारवन्तः स्मः छित्वा सद्यो निपात्यताम्॥

(५४६)

परः प्रोवाच नैतत्ते वचनं रोचते सखे।
फलानि सन्ति शासु तासु चैकैव छिद्यताम्॥

(५४७)

परो जगाद शाखाऽस्य महती चास्ति तयाऽनु किम्।
फलार्थिनो वयं सर्वे दण्डिनः साधवो यथा॥

(५४८)

दण्डेन पातयामो द्राक् फलानि प्रचुराणि च।
शाखाकर्तनेऽस्माकं नास्ति किञ्चित् प्रयोजनम्॥

(५४९)

सात्त्विकश्चापरः प्रोचे, च्युतानि बहुलानि वै।
आस्वादयध्वमेतानि सरसानि फलानि च॥

(५५०)

अनेनाऽनुमिताः सर्वे लेश्यावन्तो महाजनाः।
कृष्णलेश्याधरा जीवाः घ्नन्ति कार्यं महात्मनाम्॥

(५५१)

यथा पाकगता उग्राः पापिनो यमकिङ्करकाः।
सुखदेष्वपि चान्येषु सूद्यमेषु वरेषुच॥

(५५२)

तान् हित्वा चोग्रकर्माणो वर्वाराः विश्ववैरिणः।
अकारणं धनं कान्तां बालान् वृद्धान् तुदन्ति च॥

(५५३)

भारतो भारतो देशः प्रजापालनतत्परः।
नवं नवं सदुद्योगं तनुते दैन्यशोषकम्॥

(५५४)

पाककृतान् महाघोरानपराधान् सहते मुदा।
लभते विश्वसम्मानं सुनीतिं पालयन् सदा॥

(५५५)

पद्मा शुक्ला लेश्या चान्वर्था शिवदायिनी।
विसर्पति पद्मेभ्यः सौरभं सरसं स्वतः॥

(५५६)

निर्गन्धां च दिशं सद्यः सुगन्धां कुरुते सदा।
पिबन्ति भ्रमराः कामं गन्धवाहो हरत्यलम्॥

(५५७)

न कापि न्यूनता तत्र भूषयन्ति सरोवरान्।
तादृशाः पुरुषा लोके भवन्ति हितकारिणः॥

(५५८)

सुजन्मनः फलं नित्यं लभन्ते विषयेषु च।
प्रान्ते सुराणां लोके च, भवन्ति च महर्धिकाः॥

(५५९)

कायेन मनसा वाचा मार्गस्थास्तरवो यथा।
सर्वेभ्यश्चोपकर्त्तारो नयन्ति सफलं जनुः॥

(५६०)

ब्रुवते मधुरां वाचं प्रणमन्ति सदागमान्।
गहित्वा परसंतापं वृक्षवत् प्रीणयन्त्यलम्॥

(५६१)

अयाचिताश्च यच्छन्ति धनानि जलदा इव।
जन्मनैव त्वनाधीतं नकारं निष्ठुरं वचः॥

(५६२)

परार्थाय धनं स्वीयं गणयन्ति न चात्मनः।
मातु वर्सुन्धरायाः स्वं, भोक्तारो रक्षका वयम्॥

(५६३)

विशुद्धयाऽनया सत्या वरया भावनया पुनः।
समर्प्यन्ति च दीनेभ्यः परं यान्ति शिवं पदम्॥

(५६४)

लेश्या भेदो मया चेह संक्षेपेण निरूपितः।
कापोती तैज सी लेश्या मा भूत् कस्यापि कर्हिचित्॥

(५६५)

कङ्कणां च भोक्ता वै, वसन् क्वापि वने गृहे।
कपोत्यां सततं सक्तो न जहाति क्षणं च ताम्॥

(५६६)

कौतुकं तु तया सार्धं वितन्वानो निरन्तरम्।
तस्याः पुनः सदा नृत्यं भाणालीं च दर्शयन्॥

(५६७)

कापोती लेश्ययालीढो नरो कामातुरोऽधिकः।
न जिह्रेति कुतः क्वापि कामिनीकामलालसः॥

(५६८)

आयनस्तैजसीं लेश्यां पावकस्य सहोदरः।
स्वात्मानं च पर वापि भस्मसात् कुरुतेतराम्॥

(५६९)

शिक्षितारं गुरुं वृद्धं विश्ववंद्यमपि ध्रुवम्।
तेजोलेश्याधरोजीवो मङ्खलीतनयो यथा॥

(५७०)

करुणासिन्धुं महावीरं शक्रेज्यमादकं गुरुम्।
तं चापि पीऽयामास दग्धवान् तस्य सेवकम्॥

(५७१)

स जानन् दत्तवान् तस्मै तेजोलेश्याविधीन् वरान्।
कारयंश्च क्रियां सर्वां तच्चाटुवचनेन च॥

(५७२)

सिद्धलेश्यस्त्वसौ मूढः ख्यापयन् स्वं च सर्वगम्।
लभमानः प्रतिष्ठां च संचयन् शिष्यमण्डलीम्॥

(५७३)

पुनः क्वापि महात्मानं छलयन् छलितः स्वयम्।
भस्मयन् तं जिनाधीशं रक्षितोऽपि दयालुना॥

(५७४)

रक्तस्रावं बहु सोढ्वा क्षामक्षोमेण स्वामिना।
तथापि नरकाकारां वेदनां नैन सोढवान्॥

(५७५)

प्रान्ते यादृग् गतिर्जाता विजानन्ति मुनीश्वराः।
नैदृशी प्रकृतिः कस्य शत्रोरपि विजायताम्॥

(५७६)

आभ्यामपि च लेश्याभ्यां पर्याप्तं मुनिकुञ्जराः।
परान् दाहयते नो वा चांकुश्या लोपया धृता॥

(५७७)

मनोयोगो वचोयोगः काययोगस्तथैव हि।
जगन्मध्ये त्रयोयोगा विश्रुताः सर्वहेतवः॥

(५७८)

सच्चासच्चापि यत् कार्यं वितन्वन्ति च प्राणिनः।
निष्पाद्यते च तत् कार्यं योगैरेव न चान्यतः॥

(५७९)

मनसा विभाव्यते पूर्वं लाभाऽलाभौ समीक्ष्य च।
इदं कार्यं करिष्येऽहं प्रतिजानिते गिरा ततः॥

(५८०)

पुरा निर्धारितं द्वाभ्यां कायेनारभ्यते हि तत्:

औदारिको वैक्रियश्चैव तैजसाऽऽहरकौ तथा।
पूर्वेण सहिताः सप्त काययोगाः प्रकीर्तिताः॥

(५८१)

ते योगा कस्य के वा भवन्ति केन हेतुना।
क्रमेण तान् वदिष्यामि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः॥

(५८२)

औदारिका भवन्त्येव तिर्यञ्चो मानवास्तथा।
औदारिकेण कायेन सर्वकार्यविधायिनः॥

(५८३)

सुराभरा नारकाश्च वैक्रियलब्धिधारिणः।
तया लब्ध्या यथाकालं स्वाधिकारं विकुर्वते॥

(५८४)

यत्र क्वापि जिनेन्द्राणां जायते सवसृतिः।
इन्द्रादिष्टाः सुराः सर्वे रचयन्ति रचनां वराम्॥

(५८५)

प्राकाराश्च त्रयो दिव्या रचनास्वर्गरत्नजा।
विशाला हि सभा भव्या योजनद्वादशायता॥

(५८६)

अशोकपादपस्याद्यः पादपीठसमन्वितम्।
भामण्डलान्वितं छत्रं चतुर्द्वारविभाजितः॥

(५८७)

स्वच्छन्दं विरचन्त्याशु समवसरणमद्भुतम्।
लब्धिं विना न तत् कार्यं किं कर्त्तुं प्रभवन्ति ते॥

(५८८)

चतुर्दशविदां शुद्धं वपुरोहकं मतम्।
संदेहे सति तीर्थेशं गन्तुं तत्र प्रयुज्यते॥

(५८९)

वायुसखस्य मेघस्य गतिः पर्वतसिन्धुषु।
अव्याहतास्तथा तेषामन्तरायैर्न हन्यते॥

(५९०)

सीमन्धरान्तिके गत्वा प्रणम्य जगदीश्वरम्।
निर्धूय निजसंदेहं क्षणेनायान्ति स्वं पदम्॥

(५९१)

विचिकित्सा नैव कर्त्तव्या लब्ध्या किं किं न जायते।
लब्धिसिन्धुर्गौतमो हि प्रौच्चैरष्टापदं महत्॥

(५९२)

अनारूढमपि चान्यै समारुहय्य क्षणेन तु।
व्यावर्तमानो भव्यैः स क्षैरय्या प्रतिलाभितः॥

(५९३)

तुम्ब्या केवलया साधून् तयाऽनेकानपाययत्।
प्रापयत् केवलयालोके के न जानन्ति विद्वराः॥

(५९४)

तैजसं कार्मणं कायमाजन्म सर्वप्राणिनाम्।
तैजसात् यच्च वा भुक्तं पीतं यज्जलादिकम्॥

(५९५)

तद् विपच्यानलनैव कायेन सप्तधातुकम्।
विधाय भौतिके काये वितीर्यति यथोचितम्॥

(५९६)

सात्विकं च यद् भुक्तमाहारं देहधारकम्।
तेनैवान्नेव जायन्ते त्वगसृङ्मांसकीकशसम्॥

(५९७)

गतिश्च विमला भव्या विवेकः कार्यसाधकः।
सती च भावना श्रेष्ठा यया सम्बध्यते शिवम्॥

(५९८)

अतो विविच्य भोक्तव्योऽप्याहारश्च विवेकिभिः।
मिथ्याहारैर्विदुष्यन्ति धातवो दुःखदायकाः॥

(५९९)

नरकावनिगानां तु जीवानां वासभूमयः।
नाम्ना रत्नप्रभाद्यास्तु कर्मणाऽधोलया मताः॥

(६००)

तासु पापरता जीवाः परपीडापरायणा।
भुञ्जते च महाकष्टं भृत्वा तत्र गता नराः॥

(६०१)

वर्णयन्ति महात्मानो ज्ञानिनस्तत्त्ववेदिनः।
तासां स्वरूपं तत् पीडाश्रुत्वा केनैव विभ्यति॥

(६०२)

अजानां घातकर्त्तारश्चेहापि यवना घनाः।
निर्दया यमराजस्य किंकरा पापरूपिणः॥

(६०३)

मोदमानाश्च निघ्नन्ति,
सरलांश्च बहून् पशून्।
त एव धातका मृत्वा,
प्रयान्ति नरकावनिम्॥

(६०४)

भुञ्जते ते फलं पापाः
परपीडाकरं चिरम्।
जिनागमे विशेषेण,
वर्णितं विपुलं फलम्॥

(६०५)

नाम्ना क्रमागतं तेन सत्यङ्कारमिवोदितम्।
विमानवासिनो देवा वर्णिताश्च विशेषतः॥

(६०६)

भूयांसः पक्षिणः सन्ति तिर्यञ्चो वृक्षवासिनः।
गुहामध्यगतो केऽपि कूटाद्रिशिखरस्थिताः॥

(६०७)

तेऽप्यनेकविधां पीडां सहन्ते वातवर्षजाम्।
पत्र-पुष्प-फलाहारा निराहाराश्च केचन॥

(६०८)

वाताहाराश्च निष्पापा निराधारा निरागसः।
वाध्यन्ते पाशिकैर्जालैः हन्यन्ते च धनुर्धरैः॥

(६०९)

मारयन्ति ये पापा तादृशान् मृगपक्षिणः।
मृत्वा ते नरकं यान्ति सहन्ते यमयातनाम्॥

(६१०)

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः परेषामपि ते तथा।
इति मत्वा महान्तो वै, पीडयन्ति न प्राणिनः॥

(६११)

विमानवासिनो देवाः स्वेच्छचारविहारिणः।
तिर्यञ्चस्तथा जीवाः ते सन्ति सर्वलोकगाः॥

(६१२)

आपुष्करार्धमास्थानं सम्भवन्त्येव मानवाः।
ततो बहिर्नवा वासो मनुजानां विनिश्चितः॥

(६१३)

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा वितता बहवोऽवनौ।
लवणादयोऽनेके सागरा जलराशयः॥

(६१४)

सर्वे पौद्गलिका ज्ञेयाः सदैव परिणामिनः।
नानारूपधराः सन्ति क्रियावन्तो निरन्तरम्॥

(६१५)

कालक्रमेण ते चापि ह्रस्यन्ति विकसन्ति च।
संकोचश्च विकासश्च द्वौ विद्येत निरन्तरम्॥

(६१६)

क्रिया रूपादयो यत्र पुद्गलाः कथिता बुधैः।
दशधा परिणामोऽपि गणितो जैनसूरिभिः॥

(६१७)

नानाविधोऽपि परिणामो विलयं याति तत्र वै।
रूक्षस्निग्धप्रभेदेन बन्धनं द्विविधं मतम्॥

(६१८)

पार्थिवानामपां चापि भूयांसः परमाणवः।
स्निग्धाः सन्ति कठिनाश्चवस्तुधर्मस्वभावतः॥

(६१९)

विना बन्धं न संघातो वादरो नैव जायते।
परमाणवो जलानाञ्च स्निग्धाःसर्वैश्च स्वीकृताः॥

(६२०)

बहुना रुक्षभागेन स्निग्धेनाल्पीयसा पुनः।
बन्धो वै दृश्यते लोके स्निग्धैः स्निग्धैर्न चेतरैः॥

(६२१)

पाषाणे कर्कशो बन्धः धृते स्निग्धश्च दृश्यते।
यो भागो बहुलो यस्य तन्नाम्नासौ निगद्यते॥

(६२२)

धृतं हि पार्थिवं ज्ञेयं गन्धस्तत्रोपलभ्यते।
जलीयेन च तद्बन्धः तद्बन्धो द्रवत्वं तत्र वर्तते॥

(५२३)

जलं द्रवत्ववद् वस्तु स्पन्दते सततं हि तत्।
ऋते शैत्यात् धृतं प्रायो द्रवत्येव न संशयः॥

(६२४)

तैलादयः स्नेहवन्तः स्निग्धबन्धाः प्रकीर्तिताः।
पाषाणप्रमुखाः रूक्षाः कर्कशाः कठिनाश्च ते॥

(६२५)

महान् हि विषयश्चायं दिङ्मात्रं भयकेरितम्।
जैनागमे बन्धवादो विस्तरेण निरूपितः॥

(६२६)

स्पृशन्ती चास्पृशन्ती गती ते द्विविधे मते।
चलन्ती च स्पृशन्ती पृथिवी दृश्यते जनैः॥

(६२७)

पृथिवीजलतेजांसि गतिमन्ति स्पृशन्ति च।
स्पर्शवान् गतिमान् वायुः सर्वैरेवानुभूयते॥

(६२८)

गतिमन्तोऽतिसूक्ष्मा हि स्पर्शहीनाः सदाऽणवः।
स्पर्शा नैवोपलभ्यन्ते व्याप्नुवन्ति जगत्त्रयम्॥

(६२९)

स्पर्शहीनस्ततश्चायं भाषितो व्यावहारिकैः।
यदि तत्र न वा स्पर्शो वादरे कुत आगतः॥

(६३०)

कारणानां गुणाः कार्ये सम्भवन्ति न चान्यतः।
व्यक्तस्पर्शः क्वचिच्चास्तिकुत्राऽव्यक्तश्च मन्यताम्॥

(६३१)

त्वगिन्द्रियग्रहो व्यक्तः परः सन्मात्र एव हि।
स्पष्टाऽस्पष्टौ मया चेह स्पर्शो युक्त्या निरूपितौ॥

(६३२)

संस्थानं पञ्चधाप्रोक्तम्

वादरावयवानां च क्रमेण स्थापना हि सा।
संस्थानं तद् वदन्त्येव वस्तुतत्त्वगवेषिणः॥

(६३३)

द्वितीयं वर्तुलाकारं नारङ्गादिफलादिषु।
कदम्बकुसुमे वृत्तं बहुधा हि समीक्ष्य ते॥

(६३४)

त्रिभुजं च त्रिकोणं च यन्त्रादौ चाग्निकुण्डके।
ऋत्विग्भिः क्रियते युक्त्या देवाराधनतत्परैः॥

(६३५)

चतुरस्रं चतुर्भागं समानं भवनादिषु।
प्राङ्गणे वाससां भागे कुर्वन्ति मुनयोऽपि च॥

(६३६)

मुनीनां च सतीनां हि सर्वा हि मुखवस्त्रिका।
चतुरस्रा भवन्त्येव, श्रीमतां भवनानि च॥

(६३७)

आपतो राजमार्गो हि परिधानं तथैव च।
आपतानि त्वनन्तानि वस्तून्यपि बहूनि वै॥

(६३८)

संस्थानं मयका प्रोक्तं दृष्टान्तेन समन्वितम्।
एवं पञ्चविधो भेदोऽप्यपरस्यापि दृश्यते॥

(६३९)

खण्डश्च प्रतरश्चापि, चूणितोऽप्नुताटिकः।
कारिकानामको भेदः पञ्चमः परिकीर्तितः॥

(६४०)

स्थाली तुल्यो भवेत् खण्डः शर्कराभिर्विनिर्मितः।
प्रतरो दृश्यते भूयान् तटिनीनां तटादिषु॥

(६४१)

यन्त्रेण चूर्णितं धान्यं वज्रलेपं शिलोद्भवम्।
तटिन्यास्तटिनी सा हि, कारिका पञ्चमा मता॥

(६४२)

षड्विधः कथितो वर्णः

शुक्लो नीलस्तथा कृष्णः पीतो हरित एव च।
कपिशश्चित्रकश्चेति गुणाः पौद्गलिका इमे॥

(६४३)

षड्विधोऽपि रसस्तत्र मधुरादिप्रभेदतः।
षड्विधो हि रसो भूमौ तोये मधुर एव च॥

(६४४)

घृतादयो गन्धवन्तः सरसश्चानुभूयते।
गन्धवान् पवनो लोके कथ्यते सकलैरपि॥

(६४५)

स चापि पार्थिवः किं स्यादिति नैव निगद्यताम्।
वायुर्गन्धवहः शास्त्रे कविभिश्च प्रयुज्यते॥

(६४६)

तत्रापि पार्थिवो भागः सूक्ष्मा हि परमाणवः।
गान्धिको विक्रीणीते वै, कस्तूरी घनसारकम्॥

(६४७)

निलिम्पति न वा स्वाङ्गे तथापि गन्धवानसौ।
पवनो हरते गन्धं पृथिव्याः सततं हि सः॥

(६४८)

स गन्धो द्विविधो ज्ञेयः सुरभिश्च तथेतरः।
स्वरूपकथनं चैतन्न पुनर्लक्षणं हि तत्॥

(६४९)

सम्बन्धेन तु नित्येन भूमिर्गन्धवती मता।
इदं हि लक्षणं तस्याः दोषत्रयविवर्जितम्॥

(६५०)

माधुर्यं च जले नास्ति, पार्थिवं किन्न मन्यते।
जम्बीरादि जले यादृक् चामलत्वं हि पार्थिवम्॥

(६५१)

चत्वारि खलु द्रव्याणि स्पर्शवन्ति न चापरे।
पृथिवीजलतेजांसि स्पर्शवान् वायुरप्यसौ॥

(६५२)

स्पर्शश्चाष्टःविधो ज्ञेयो मृद्वादि बहुभेदतः।
पाषाणे कर्कशः स्पर्शो तूलादौ लघुरेव च॥

(६५३)

गुरुस्पर्शः सुवर्णादौ नवनीते स्निग्ध एव च।
शीतो वारिणि कर्कादौ द्राक्षापक्वे फले मृदुः॥

(६५४)

अनले च दिवानाथे स्पर्शश्चोष्णो बुधैर्मतः।
शार्करे लवणे रूक्षः क्रमेण गणितो बुधैः॥

(६५५)

शब्दो जैनमते द्रव्यं गुणपर्य्यायलक्षणात्।
अगुरुश्च लघुश्चापि द्वौ स्पर्शौ तत्र स्वीकृतौ॥

(६५६)

नैयायिकमते शब्दो गुणो नो द्रव्यमीरितम्।
क्रियावद् गुणवद् द्रव्यं द्रव्यलक्षणस्वीकृतम्॥

(६५७)

क्रियावान् रूपवान् कुम्भः प्रवदन्ति मनीषिणः।
गुणे गुणा न वर्तन्ते ते न वा समवायिनः॥

(६५८)

कारणत्रितयस्यान्तः गुणा असमवायिनः।
पटात्मकस्य द्रव्यस्य तन्तवः समवायिनः॥

(६५९)

संयोगा ननु तन्तूनां भवन्त्यसमवायिनः।
कुबिन्दयन्त्रव्यापारो निमित्तं कारणं मतम्॥

(६६०)

शब्दश्च द्विविधः प्रोक्तः ध्वनिवर्णविभेदतः।
ध्वनयोऽनेकधा प्रोक्ता वर्णोक्तीष्वादि भेदतः॥

(६६१)

तारतम्यं हि ध्वनौ, नैव वर्णात्मके पुनः।
वादकानां प्रयासेन ध्वनौ तारतम्यमस्तु वै॥

(६६२)

द्रव्यनिष्ठो गुणो विज्ञैः शब्दे चापि निरूप्यते।
गुणे गुणो न वर्तेत युक्त्या तैश्च समर्थितः॥

(६६३)

अगुरुलघुराख्यातः एकाकारो बुधेश्वरैः।
शब्दाख्यः परिणामस्तु भाव्यतेऽथ विपश्चित॥

(६६४)

स द्विधा वा चतुर्धा वा, द्विधा तत्र विभज्यते।
शुभाशुभतया यद्वा, वैस्रासिकः प्रयोगजः॥

(६६५)

गुरुणा शब्दधातेन बहूनां श्रवणेन्द्रियम्।
विकृत्य बधिरत्वं हि, निश्चितं च भिषग्वरैः॥

(६६६)

बालानां हृदयस्फोटो त्रासा वा दृश्यते पुनः।
लघुना स्पर्शयुक्तेन शब्देनोद्बुध्यते जनः॥

(६६७)

सप्रमाणं च दृष्टान्तैः स्वपक्षस्तु समर्थितः।
परेषां विमतिश्चापि दिङ्मात्रेण निरूप्यते॥

(६६८)

अथो निरूप्यते कालो वर्तना लक्षणत्विह।
अखण्डोपाधिकः कालः स नित्यो व्यापको मतः॥

(६६९)

क्रियाभेदाय कालः स्यात् क्रियानेकविधा मताः।
कालोऽनन्तोऽपि सामान्यं त्रिधैव कथितो बुधैः॥

(६७०)

वर्तमानोऽप्यतीतो हि भावि चापि निरूपितः।
सर्वत्र विषये सर्वा क्रिया स्पन्दते हि या॥

(६७१)

वर्तमानाऽन्विता सर्वा, वर्तमाना क्रियोदिता।
यस्याः कालोऽप्यतिक्रान्तः सातीता कथिता क्रिया॥

(६७२)

भाविकाले क्रिया, चापि भाविनी कविनेरिता।
सामान्यतो हि कालस्य चैष भेदः प्ररूपितः॥

(६७३)

निमेष घटिकाद्यास्तु कालस्यैव परम्पराः।
द्रव्यं तु वर्णितं पूर्वं पर्य्यायोऽथ निगद्यते॥

(६७४)

पर्यायोऽनेकधा प्रोक्तः क्रियानिह निरूप्यते।
संज्ञा संज्ञाविशेषश्च, जिनो नेमिजिनेश्वरः॥

(६७५)

गुणो यो जन्मना जातः पर्यायक्रमयोगतः।
वस्तुस्वभावधर्मो हि चास्तित्वमीरितं जिनैः॥

(६७६)

वस्तुत्वं चादि द्रव्यत्वं वस्तुनिष्ठं प्रमेयता।
लघुत्वं गुरुत्वं च प्रदेशत्वं तथैव च॥

(६७७)

पर्य्यायाख्यपदार्थे च प्रदेशत्वं हि दृश्यते।
सामान्यं दर्शनं प्रोक्तं विशेषज्ञानमुच्यते॥

(६७८)

किमपि दृश्यते चेदं किं तज्जिज्ञास्यते जनैः।
अनुकूलं वेदनीयं यत् सुखमाहुर्मनीषिणः॥

(६७९)

वीर्यं कार्यकरी शक्तिः स्पर्शश्चानेकधोदितः।
रसः षड्विधः प्रोक्तः गन्धस्तु द्विविधो मतः॥

(६८०)

वर्णो बहुविधश्चास्ति, गतौ वेगो हि कारणम्।
पुद्गला गतिमन्तश्च, जीवोऽपि गतिमान् मतः॥

(६८१)

चेतनाचेतने द्रव्ये, मूर्ताऽमूर्त्ते तथैव च।
चेतनः कथितश्चात्मा आश्रवाद्यास्त्वचेतनाः॥

(६८२)

पुद्गला मूर्तिमन्तो हि, त्वमूर्त्ताः सुकृतादयः।
विशेषा द्वादशाश्चैव विज्ञैर्ज्ञानादिका गुणाः॥

(६८३)

मनुष्यो देवतिर्यञ्चौ नारकादिप्रभेदतः।
गतिश्चतुर्विधा प्रोक्ता विश्वमात्रावलोककैः॥

(६८४)

जैनागमसिद्धान्तं स्याद्वादेन समन्वितम्।
ध्यायं ध्यायं गुरोर्वाक्यं कौमुदी रचिता मया॥

(६८५)

क्व शास्त्रार्थसंयुक्तः, सिद्धान्तः स्यात्समन्वितः।
क्व चाल्पविषया बुद्धिः, सर्जने चपला परा॥

(६८६)

तथापि देवगुरूणाञ्च, कृपया शास्त्रलेखने।
संसक्ता शेमुषी जाता, शक्ता सिद्धान्त वर्णने॥

(६८७)

यदिकश्चिद् गुणो भाति, स गुरूणां कृपा-लवः।
दोषश्चात्र भवेत्तर्हि, प्रमादो मे प्रकल्यताम्॥

(६८८)

प्रशस्तिः

श्रीवीरस्य जिनेन्द्रस्य शासनाधिपतेः प्रभोः।
लोके विजयते रम्यं, पट्टं धर्मधुरन्धरम्॥

(६८९)

तत्र स्वामी सुधर्माख्यो गणीन्द्रः श्रुतकेवली।
निर्ग्रन्धनामकं गच्छमतनोद् भुवि निर्मलम्॥

(६९०)

कोटिशः सूरिमन्त्रस्य, जपात् सुस्थितसूरिभिः।
कोटिगच्छमतिस्वच्छं, स्थापितं तन्महीतले॥

(६९१)

चन्द्रं चन्द्रोज्जवलं भूयः सद्यशो रश्मिशोभितः।
अनुचकार गच्छश्री चन्द्रसूरीश्वरो महान्॥

(६९२)

समन्ताद् वनवासीति, सामन्तभद्रसूरिपः।
स्वच्छं गच्छं वितेने सः, तदनु भद्रकृद्भुवि॥

(६९३)

सर्वदेवाख्य सूरीशः सर्वश्रेयस्करं कलम्।
वटगच्छं पवित्रं च, विशालं तदनुव्यधात्॥

(६९४)

श्रीमेदपाटभूपालमहातपापदैर्भुवि ।
श्रीजगच्चन्द्रसूरिशैस्तपागच्छः प्रवर्तितः॥

(६९५)

परम्परागते स्वच्छे तपागच्छेऽत्र भूतले।
यवनाकबरे लेश प्रतिबोधकराः वराः॥

(६९६)

धीरवीरत्वहीरत्वगम्भीरत्वादि भूषिताः।
जगद्गुरुवराः विज्ञाः संजाता ही रसूरयः॥

(६९७)

प्रतापिसेनसूरीशैर्दक्षे श्रीदेवसूरिभिः।
वादीभैः सिहकल्पैः श्रीसिंहसूरिश्वरैः क्रमात्॥

(६९८)

उल्लासिते तपोगच्छे, वृद्धिविजयकारकाः।
श्री वृद्धिविजया जाता, वृद्धिचन्द्रादयः परे॥

(६९९)

तेषाञ्च शान्तमूर्तीनां पादाब्जमधुपोपमाः।
सर्वशासनसम्राजो, विभ्राजो ज्ञानरश्मिभिः॥

(७००)

सत्तीर्थोद्धारकाः प्रौढाः, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकाः।
सूरिमन्त्रकप्रस्थानपञ्चकाराधकाः किल॥

(७०१)

सद्ब्रह्मचारिणः श्रीमन्नेमिसूरिश्वरा वराः।
क्षमाधरार्चिता जातास्तत् पट्टाम्बरभासकाः॥

(७०२)

सप्तलक्षाधिकश्लोकमितस्य संस्कृतस्य च।
साहित्यस्य सुकर्त्तारः, कृतीशा ब्रह्मचारिणः।

(७०३)

शान्ताः साहित्यसम्राजो विभ्राजो ज्ञानज्योतिषा।
ख्याता व्याकरणे वाचस्पतयः कविरत्नकाः॥

(७०४)

शास्त्रविशारदा जाता, लावण्यसूरिशेखराः।
तेषां पट्टधरा मुख्याः, ख्याताः शास्त्रविशारदाः॥

(७०५)

कवि दिवाकरा दक्षा, सद्व्याकरणरत्नकाः।
दक्षसूरीश्वरा जाताः सरल ब्रह्मचारिणः॥

(७०६)

तेषां पट्टधरेणाथ, सहोदरेण साधुना।
देवगुरु प्रसात् श्री सुशीलसूरिणा मया॥

(७०७)

जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् रम्ये भरतक्षेत्रके।
भरते दक्षिणार्दे श्रीमध्यखण्डे विराजिते॥

(७०८)

राजस्थाने सुविख्याते, नाकोडा तीर्थके परे।
पक्षाघातप्रभावे च स्वास्थ्यलाभः प्रकुर्वता॥

(७०९)

अश्वबाणनभोबाहु (२०५७ वि.सं.), मिते वैक्रमवत्सरे।
जैन सिद्धान्त बोधाय, कृतेयं सिद्धान्त कौमुदी॥

(७१०)

चैत्र शुक्ल त्रयोदश्यां, शुभे च रविवासरे।
महावीरजयन्त्यां वै, कौमुदीयं प्रपूरिता॥

(७११)

यावन्मेरुस्वयम्भूश्रीसूर्यचन्द्रग्रहाः स्थिताः।
राजतां तावदियं लोके जैनसिद्धान्त कौमुदी॥

(७१२)

आहर्तीं भारतीं भव्यां, प्रार्थये श्रुतदेवताम्।
भूयाज् जैनसिद्धान्त - कौमुदी विश्वभूतये॥

卐卐卐

श्री जिनेश स्तुतिः

अखिलेश ! गुणीश! जिनेश विभो,
परमेश परात्पर शुद्धमते।
विनतं पतितं बहुकर्मगतं,
जनतारण ! तारय भक्तममुम् ॥

बलहीनमहो, मतिहीनमहो,
गुणहीनमहो, गतिहीनमहो।
तमसावृत- बोधनिधानमहो,
जनतारण ! तारय भक्तममुम् ॥

मम जीवनमीन-निभं सततं,
विकलं सकलं भवसागरके।
करुणाकर! तारय तारय मां,
जनतारण ! तारय भक्तममुम् ॥

करुणावरुणालय ! कर्मततौ,
पतितं परिपालय पालय भोः ।
हतबुद्धिबलं बहुतापितकं
जनतारण ! तारय भक्तममुम ॥

दुरितौघभरैः परिपूर्ण जनः,
वितनोति यदा तव पादनतिम् ।
परिशुद्धमुपैति कथा प्रथिता,
जनतारण! तारय भक्तममुम् ॥ ,

जनप्रिय- जिनेशस्य, पचकं भक्तिसंयुतम् ।
प्रोक्तं सूरिसुशीलेन, कर्मणां मलशुद्धये ॥

卐 卐 卐

मृत्युञ्जय- महोत्सव

पापप्रतिघातका मूलश्लोकाः

(१)

जिनेशं वीतरांग तं,
रत्नत्रय- विभूषितम्।
वन्दे सच्चिदानन्दं,
सम्यग् बोधोपलब्धये॥

(२)

कर्मणां बन्धनैर्जातं
जन्म संसार-सागरे ।
रिंगत्तरंग- दुःखारव्यैः
दुःखितोऽहं मुहुर्मुहुः ॥

(३)

संसारे यच्च तद् दुःखं,
कर्म तस्य च कारणम्।
निवारणार्थं परा प्रोक्ता,
रत्नानां च त्रयी जिनैः ॥

(४)

सद्दर्शनं च सुज्ञानम्,
पवित्रं चरितं परम् ।
कर्म मोक्षाय संदिष्टा,
त्वजिह्मा राजपद्धतिः ॥

(५)

भोगायतने देहे,
जीवो दुःखततिं श्रितः ।
बहुता घातैश्च संत्रस्तः
प्राप्तो मृत्युमहार्णवम् ॥

(६)

अतीते बहुधा जाता,
मृत्युर्मे च पुनः पुनः ।
किन्त्वद्यापि नो जातो
मृत्यो-जीवितोत्सवः ॥

(७)

जीवनस्य प्रतिच्छाया
मृत्युरस्ति न संशयः ।
मरणं में मंगलं भूयात्
भक्त्या दानमहोत्सवैः ॥

(८)

जैन-दर्शन-सिद्धान्त
प्रथितोऽस्ति महीतले।
निगोदस्तु बुधैः प्रोक्तः,
गर्भावस्थान मात्मनः॥

(९)

गर्भावस्था यथा लोके,
बाल्य-यौवन- वार्धकम्।
तथैव जैन- सिद्धान्ते
निगोदो गर्भकोदितः॥

(१०)

अव्यवहार राशिस्तु
निगोदोऽनादि रुच्यते ।
निगोदकर्मणां नाशे,
धीरो नैव प्रमाद्यति ।

(११)

असारेऽस्मिन् च संसारे,
दुःख-दावाग्नि- संकुले ।
मरणं निश्चितं किन्तु
तरणं स्यात् प्रयत्नतः ॥

(१२)

जैन-सिद्धान्त-शास्त्रेषु,
मरणं पञ्चविधं मतम्।
प्रथमं वीतरागानां,
मरणं मंगलं मतम्॥

(१३)

विरक्तानां च देशाद् वा,
सर्वस्माद् वा च छद्मनाम्।
द्वितीयं-मरणं प्रोक्तं,
पण्डितारव्यं च धीधनैः॥

(१४)

सुदेव-गुरु-धर्मेषु
दत्त चित्तोप-योगीनाम्।
मरणमवितानां वै
तृतीयं बाल-पण्डितम्॥

(१५)

चतुर्थं मरणं लोके
किञ्चिद् धमार्थ सेविनाम्।
मिथ्यादर्शिनां प्रोक्तं
बालरव्यं मरणं पुनः

(१६)

पञ्चमं दुष्टवृत्तीनां
मिथ्या भवाभिनन्दनम्।
जैन सिद्धान्त- मर्मज्ञैः,
वर्णितं शास्त्रपद्धतौ॥

(१७)

मरणं मंगलं तच्च,
बोधि-भाव-समन्वितम्।
दर्शनज्ञान-चारित्र
शुद्धानां वीतरागिणाम्॥

(१८)

जातो यश्चात्र संसारे,
मृत्युस्तस्य सुनिश्चिता।
अतो भीतिः कथं मृत्योः,
देहो नश्यति नैव सः॥

(१९)

कृमिभिः संकुलो देहः,
रोग-सन्ताप-कारकः।
क्षीयतेऽनुपलं नित्यं,
मोहं नैव वृथा कृथाः॥

(२०)

आत्मा नो जायते चात्र,
नैव बालो युवा तथा।
नैव वृद्धोऽप्यशक्तोऽसौ,
तस्मान् मृत्युजयी सदा॥

(२१)

मायामोहं च संत्यज्य,
स्वात्मरूपं विचार्य वै।
श्रीजिनोक्तौ च सत् श्रद्धां
कुर्वन् मृत्युञ्जयी सदा॥

(२२)

आत्मन्! अनित्योऽयं देहस्स,
त्वशुचीरोग- मन्दिरम्।
शुद्धौ यत्ने कृते शश्वत्
सर्वदा मलिनायते॥

(२३)

जननान् मरणं जातं
निश्चितं यस्य पूर्वतः।
कः शोकस्तत्र को मोहो,
वृथा का परिदेवना॥

(२४)

संरुध्य ममतावर्तं
समता सूत्र- मास्थितः।
मृत्यो र्महोत्सवे, हर्षन्
सत्यं मृत्युञ्जयी सदा॥

(२५)

रागद्वेष,-वशीभूतो,
जीवो दुःखततिं श्रितः।
क्रूरकर्माश्रितो लोके,
कंथं शान्तिं समाश्रयेत्॥

(२६)

प्रतिकूलेऽनुकूले वा,
सुन्दरेऽ सुन्दरे ऽपि च।
राग- द्वेषौ न मे किञ्चित्
जायतां हे जिनेश्वर॥

(२७)

मनो में जायतां स्वच्छं
पवित्र दोष वर्जितम्।
सर्वेषामात्म तुष्टानां
दर्शनं स्यात् प्रशान्तये॥

(२८)

जानन्नहं सदा लोके,
आत्मनो देहभिन्नताम्।
उद्देश्यं निर्मलं मोक्षं
चिन्तयामि मुहुर्मुहुः॥

(२९)

उत्पद्यते जगत् सर्वम्,
वर्धते कर्म- साधनैः।
उदेति सविता प्रात
र्याति चास्तं दिनात्यये॥

(३०)

तिस्रो दशा हि सूर्यस्य,
दृश्यन्ते चेद्धि नैकके।
अपरस्य कथा केह,
सर्वं नाशेन मिश्रितम्॥

(३१)

त्रिपद्या उपदेष्टारो
वस्तूनि जगदुर्जिनाः।
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति,
तिष्ठन्ति कर्म योगतः॥

(३२)

परिवर्तन-शीलोऽयं
विश्वग्रामो निरन्तरम्।
नरो दिवं समासाद्य,
भूयो भूमिं समाश्रयेत् ॥

(३३)

जातस्य नित्यता नास्ति,
स्तोक कालनिवासिनः।
मरणं शरणं नित्यं,
जातस्योत्पतितस्य च॥

(३४)

रामो दाशरथि र्जातो,
नलो बालिश्च रावणः।
भूपाला बहवो जाताः,
जित्वाऽरीन बुभुजुर्महीम्॥

(३५)

किन्तु चैकतमः कोऽपि
दृश्यते श्रूयते जनैः।
विनाशेन समं दृष्टं
जगदेतच्चराचरम्॥

(३६)

यावन्तो हि जना जाताः,
न म्रियेरन् कदाचन।
धरित्री खलु वासाय,
तिलमात्रं न वा भवेत्॥

(३७)

फलानि ननु वृक्षेषु
यावन्ति प्रफलन्ति वै।
न पतेयु र्धरापीठे,
भङ्गुरा स्युर्महीरुहाः॥

(३८)

परिवर्तनशीलोऽयम्,
शाल्मली-कुसुमोपमः।
संसारस्सार-हीनो हि,
रम्यो गिरिकुटोपमः॥

(३९)

प्रभाते यन्न मध्याह्ने,
मध्याह्ने न निशा मुखम्।
कुलाल चक्रवन्नित्यं
जगद् भ्राम्यति सर्वदा॥

(४०)

धनं धान्यं कलत्रं च,
यौवनं नूतनं गृहम्।
मनोहारि जगत् सर्वं,
प्रान्ते निर्माल्य सन्निभम्॥

(४१)

पुत्रार्थं पितरौ कष्टं
सहेते वचनातिगम्।
स पुत्रो मातरं तातं
रक्षितुं न प्रभुर्भवेत्॥

(४२)

कालः कवलयन् सर्वान्,
पश्यतां हि हितैषिणाम्।
न कोऽपि कस्यचित् त्राता,
यात्यनाथो भवान्तरम्॥

(४३)

नरनाथाः प्रजाः सर्वाः,
मुनयश्च महर्षयः।
स्तेना रङ्क वराः क्रूराः,
ये जातास्ते मृता ध्रुवम्॥

(४४)

भूपोऽनूपोऽपि जीवोऽयं,
पङ्करङ्क प्रजायते।
रुजाक्रान्तः सुखी नित्यं
विचित्रा हि भवस्थितिः॥

(४५)

का योनिः कतरत् स्थानं,
का जातिः किं च वा कुलम्।
यत्र जीवो न वा जातः,
किं दुःखं नैव भुक्तवान्॥

(४६)

भवेऽस्मिन् सकलं स्थानं
पदं चापि वरेतरम्।
भुक्त्वोज्झितं हि जीवेन
भुञ्जानं भुज्यते पुनः॥

(४७)

सुखिनः सन्तु जीवास्ते,
संसारे येऽपि संगताः।
क्षामये सततं भक्त्या,
समताभाव-संश्रितः॥

(४८)

हे जिनेश्वर! हे ज्ञानिन्।
वीतराग! जगतप्रभो।
बोधिरत्नं यथालभ्यं
क्रिया मे स्यात्तथा तथा॥

(४९)

अहर्तां शरणं दिव्यं
सिद्धानां शरणं परम्।
साधूनां शरणं पुण्यं
नित्यं प्रीत्या समाश्रये॥

(५०)

आगमाः शरणं सत्यं
नित्यं सत्यार्थदर्शकाः।
केवली भाषितत्वाच्च,
श्रद्धेयास्ते पुनः पुनः॥

(५१)

अशेष क्लेश- हन्तारं
वीतरागं जिनेश्वरम्।
स्मारं स्मारं लिखन् सूरिः
सुशीलः शान्तिमाश्रयेत्॥

इति श्रीमन्मृत्युञ्जयमहोत्सवे सभक्ति-
पठिनीयो महामंगलप्रद्रो 'मृत्युञ्जय स्तोत्र
पाठः' श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरेण
विरचितः सम्पूर्णम्। शिवमस्तु सर्वजगतः।

卐卐卐

श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति

उद्देश्य

सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार

नमो नाणस्स

ट्रस्ट मंडल

- संघवी श्री गुणदयालचंद जी भंडारी, जोधपुर
- शा. हस्तिमल जी देवीचंद जी मुठलिया, तखतगढ़ (मुम्बई)
- संघवी श्री प्रकाशचंद जी गेनमल जी मरडीया, जावाल (चैन्नई)
- संघवी श्री मांगीलाल जी चुनीलाल जी, तखतगढ़ (चैन्नई)
- शा. नैनमल जी विनयचंन्द्र जी सुराणा, सिरोही (मुंबई)
- शा. मांगीलाल जी तातेड, मेडता सिटी (चैन्नई)
- शा. देवराज जी दीपचंद जी राठौड, जवाली (पाली)
- शा. रमणीकलाल मिलापचंद जी नोवी (सूरत)
- शा. पारसमल जी सराफ, बिलाड़ा
- शा. गनपतराज जी चोपडा, पचपदरा (मुंबई)
- शा. सुखपालचंद जी भंडारी, जोधपुर

कार्यालय :

श्री सुशील–साहित्य प्रकाशन समिति

संघवी श्री गुणदयालचंद जी भंडारी

राइका बाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास, पो. जोधपुर– ३४२००६ (राज.)

Ph. : 0291-2511829, 2510621